गद्य-लेखक रामचन्द्र शुक

(आचार्य शुक्ल के दार्शनिक व साहित्यिक मन्तव्यों
उनके गद्य साहित्य का विशद विवेचन)

लेखक
बलदेवकृष्ण शास्त्री एम० ए०
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
देशबन्धु कॉलिज (सान्ध्य)
कालकाजी नई दिल्ली

ओरिएण्टल बुक डिपो
१७०४, नई सड़क दिल्ली

प्रकाशक
ओरिएण्टल बुक डिपो
१७ ४ नई सड़क दिल्ली

प्रथम संस्करण
दीपावली सं २ ११

मूल्य चार रुपये

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
[illegible] क्वीन्स रोड दिल्ली

दो शब्द

सन् १९५४ में मुझे पंजाब विश्वविद्यालय के कैम्प कालिज नई दिल्ली में एम० ए० (हिन्दी) के छात्रों को पढ़ाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय मैंने श्री रामचन्द्र शुक्ल के गद्य साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया और मैं उनके दार्शनिक व साहित्यिक मन्तव्यों के संकलन व विश्लेषण की ओर बड़ी तत्परता से संलग्न हुआ। उस समय मैंने यह अनुभव किया कि एम० ए० के छात्र आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों तथा उनके साहित्यिक मन्तव्यों के समझने में कुछ कठिनाई का अनुभव करते हैं, फलतः वे उनके इस बौद्धिक प्रयास की ओर अपनी अरुचि प्रदर्शित करते हैं। अतएव मैंने यह अनुभव किया कि आचार्य शुक्ल के साहित्य के अध्यापन के लिए ऐसी पद्धति का अनुसरण किया जाए जिससे कि छात्रों की रुचि उनके गद्य-साहित्य के प्रति विद्यमान रहे। मैंने उनकी साहित्यिक विशेषताओं तथा मन्तव्यों के विश्लेषण के लिए सरल पद्धति के अन्वेषण में तथा उसके प्रयोग करने में चार वर्ष व्यतीत किये। उसी प्रयास को आज 'गद्य लेखक रामचन्द्र शुक्ल' नामक पुस्तक के रूप में साकार होता देखकर मुझे हार्दिक सन्तोष की अनुभूति हो रही है।

इस पुस्तक में मैंने सर्वप्रथम आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने का यत्न किया है। उनके जीवन सम्बन्धी इतिवृत्त का सामान्य उल्लेख करके उनके साहित्यिक व्यक्तित्व पर पूर्ण प्रकाश डालने का उपक्रम इसमें किया गया है। दूसरे प्रकरण में उनकी विभिन्न रचनाओं के आधार पर उनके दार्शनिक मन्तव्यों—अर्थात् ईश्वर, जीव प्रकृति तथा मानव जीवन सम्बन्धी धारणाओं को सुविस्तृत रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। अपने कथन का समर्थन करने के लिए शुक्लजी के ग्रन्थों में से प्रासंगिक उद्धरण प्रस्तुत कर दिये गए हैं। इसी प्रसंग में उनके मानवता सम्बन्धी

विचारों को भी विन्यस्त कर दिया गया है और साथ ही उनके मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों का प्रकारान्तर में सारांश भी प्रस्तुत कर दिया गया है। उनके जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालते हुए, धर्म-अधर्म साधारण धर्म, विशेष धर्म तथा मोक्षधर्म सम्बन्धी उनकी धारणाओं को भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर दिया गया है। मुक्ति स्वर्ग तथा नरक सम्बन्धी मानव के शाश्वत प्रश्नों के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को संक्षेप से प्रस्तुत करके उनके द्वारा प्रतिपादित [illegible] के उपाय का भी विशद निरूपण कर दिया गया है।

इसी प्रकार तीसरे प्रकरण में शुक्लजी के साहित्यिक मन्तव्यों को भी पूर्ण विस्तार के साथ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। सर्वप्रथम उन मन्तव्यों के आधार को स्पष्ट करके उनके द्वारा स्वीकृत काव्य स्वरूप की विशद तथा क्रमबद्ध विवेचना कर दी गई है। कवि और श्रोता सम्बन्धी उनकी धारणाओं को स्पष्ट करने के उपरान्त काव्य में वर्णित होने वाले जगत् और जीवन की चर्चा भी कर दी गई है। इसी प्रसंग में काव्य स्वरूप का उद्घाटन करने वाली अनुभूति से बुद्धि के योग को तथा काव्यानुभूति के स्वरूप को भी बड़े विस्तार के साथ निर्दिष्ट कर दिया गया है। प्रसंगवश सौन्दर्यानुभूति रहस्यानुभूति सत्य बोध के सम्बन्ध में शुक्लजी की मान्यताओं का निरूपण भी यथोचित रीति से सम्पन्न हो गया है। काव्य की आत्मा तथा शरीर सम्बन्धी धारणाओं की चर्चा करके उनकी दृष्टि के अनुसार काव्य के लक्ष्य तथा परिभाषा की विशद व्याख्या भी कर दी गई है। काव्य के तत्त्वों की चर्चा करते हुए भावों की दशाओं के सम्बन्ध में उनकी नवीन उद्भावना को प्रकट कर दिया गया है। इसी प्रसंग में भाव के स्वरूप और प्रकृति की तथा उनकी स्थायी-संचारी भाव-व्यवस्था की मीमांसा भी कर दी गई है। रस दशा के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं का उल्लेख करते हुए साधारणीकरण सिद्धान्त की विवेचना कर दी गई है और साथ ही रस दशा की कोटियों की चर्चा भी प्रसंगतः हो गई है। इसी प्रकार [illegible] [illegible] के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं पर पूर्ण प्रका

डालने का सत्प्रयास किया गया है। इसी प्रसंग में अभिधा लक्षणा तथा व्यंजना की चर्चा हो गई है। काव्य में अलंकारों के स्थान व महत्त्व को उनकी धारणा के अनुसार स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। काव्य के भेदों की चर्चा करते हुए उनकी कविता सम्बन्धी मान्यताओं का सुविस्तृत विवेचन कर लिया गया है। साथ ही काव्य क्षेत्र में प्रचलित नवीन वादों—रहस्यवाद प्रतीकवाद कल्पनावाद छायावाद अभिव्यञ्जनावाद—के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को भली भाँति स्पष्ट करने का यत्न किया गया है।

चौथे प्रकरण में शुक्लजी की आलोचना-पद्धति की मीमांसा की गई है। सर्वप्रथम समालोचना के स्वरूप को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है तदनन्तर उनके समीक्षादर्शों की चर्चा कर दी गई है। फिर इन आदर्शों की चरितार्थता उनके समीक्षा साहित्य में प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में उनके समीक्षा ग्रन्थों—गोस्वामी तुलसीदास सूरदास तथा जायसी ग्रन्थावली की भूमिका की सामान्य चर्चा कर दी गई है। पाँचवें प्रकरण में शुक्लजी के रचनात्मक साहित्य की विवेचना की गई है। सर्वप्रथम उनके निबन्धों का वर्गीकरण कर दिया गया है। तदनन्तर उनके निबन्ध-स्वरूप को तथा उन निबन्धों की विशेषताओं को यथोचित विस्तार के साथ क्रमशः विन्यस्त कर दिया गया है। उनके निबन्धों में व्याप्त बुद्धि तत्व भावतत्व नीतिपारिता शास्त्रीयता मौलिकता भारतीयता निगमन एवं व्याख्यात्मक पद्धति समास शैली पर पूर्ण प्रकाश डालकर उनकी गद्यभाषा के स्वरूप का उद्घाटन भी यथोचित रीति से कर दिया गया है। तदनन्तर उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास की चर्चा कर दी गई है। इस इतिहास के अन्तर्गत साहित्यिकता के अंश को तर्क के आधार पर निर्दिष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसी प्रसंग में शुक्लजी के भावानुवादों की भी चर्चा कर दी गई है। विश्वप्रपंच कल्पना का आनन्द, तथा शशांक का विशेषतया उल्लेख कर दिया गया है। 'आमोद' के प्रसंग में हिन्दी गद्य के विकास में शुक्लजी की देन का स्पष्ट अंकन कर दिया गया है। उनकी गद्य-

विचारों को भी विन्यस्त कर दिया गया है और साथ ही उनके मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों का प्रकारान्तर से सारांश भी प्रस्तुत कर दिया गया है। उनके जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालते हुए, धर्म-अधर्म साधारण धर्म, विशेष धर्म तथा लोकधर्म सम्बन्धी उनकी धारणाओं को भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर दिया गया है। मुक्ति स्वर्ग तथा नरक सम्बन्धी मानव के शाश्वत प्रश्नों के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को संक्षेप से प्रस्तुत करके उनके द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मदर्शन के उपाय का भी विशद निरूपण कर दिया गया है।

इसी प्रकार तीसरे प्रकरण में शुक्लजी के साहित्यिक मन्तव्यों को भी पूर्ण विस्तार के साथ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। सर्वप्रथम उन मन्तव्यों के आधार को स्पष्ट करके उनके द्वारा स्वीकृत काव्य स्वरूप की विशद तथा क्रमबद्ध विवेचना कर दी गई है। कवि तथा श्रोता सम्बन्धी उनकी धारणाओं को स्पष्ट करने के उपरान्त काव्य में वर्णित होने वाले जगत् और जीवन की चर्चा भी कर दी गई है। उसी प्रसंग में काव्य स्वरूप का उद्भावन करने वाली अनुभूति में बुद्धि के योग को तथा काव्यानुभूति के स्वरूप को भी बड़े विस्तार के साथ निर्दिष्ट कर दिया गया है। प्रसंगवश सौन्दर्यानुभूति रहस्यानुभूति स्वप्न बोध के सम्बन्ध में शुक्लजी की मान्यताओं का निरूपण भी यथोचित रीति से सम्पन्न हो गया है। काव्य की आत्मा तथा शरीर सम्बन्धी धारणाओं की चर्चा करके उनकी दृष्टि के अनुसार काव्य के लक्ष्य तथा परिभाषा की विशद व्याख्या भी कर दी गई है। काव्य के तत्त्वों की चर्चा करते हुए भावों की दशाओं के सम्बन्ध में उनकी नवीन उद्भावना को प्रकट कर दिया गया है। इसी प्रसंग में भाव के स्वरूप भेद आदि की तथा प्राचीन स्थायी-संचारी भाव-व्यवस्था की मीमांसा भी कर दी गई है। रस दशा के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं का उल्लेख करते हुए साधारणीकरण सिद्धान्त की विवेचना कर दी गई है और साथ ही रस दशा की कोटियों की चर्चा भी प्रसंगवश हो गई है। इसी प्रकार बुद्धितत्त्व कल्पनातत्त्व एवं संगीततत्त्व के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं पर पूर्ण प्रकाश

जानने का सत्प्रयास किया गया है। इसी प्रसंग में अभिधा लक्षणा तथा व्यंजना की चर्चा हो गई है। काव्य में अलंकारों के स्थान व महत्त्व को उनकी धारणा के अनुसार स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। काव्य के भेदों की चर्चा करते हुए उनकी कविता सम्बन्धी मान्यताओं का सुविस्तृत विवेचन कर दिया गया है। साथ ही काव्य क्षेत्र में प्रचलित नवीन वादों— रहस्यवाद प्रतीकवाद कल्पनावाद छायावाद अभिव्यंजनावाद—के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को भली भाँति स्पष्ट करने का यत्न किया गया है।

चौथे प्रकरण में शुक्लजी की आलोचना-पद्धति की मीमांसा की गई है। सर्वप्रथम समालोचना के स्वरूप को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है तदनन्तर उनके समीक्षादर्शों की चर्चा कर दी गई है। फिर इन आदर्शों की चरितार्थता उनके समीक्षा साहित्य में प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में उनके समीक्षा ग्रन्थों—गोस्वामी तुलसीदास सूरदास तथा जायसी ग्रन्थावली की भूमिका की सामान्य चर्चा कर दी गई है। पाँचवें प्रकरण में शुक्लजी के रचनात्मक साहित्य की विवेचना की गई है। सर्वप्रथम उनके निबन्धों का वर्गीकरण कर दिया गया है। तदनन्तर उनके निबन्ध-स्वरूप को तथा उन निबन्धों की विशेषताओं को यथोचित विस्तार के साथ क्रमशः विन्यस्त कर दिया गया है। उनके निबन्धों में व्याप्त बुद्धि तत्त्व भावतत्त्व नीतिवादिता शास्त्रीयता मौलिकता भारतीयता निगमन एवं व्याख्यात्मक पद्धति समास शैली पर पूर्ण प्रकाश डालकर उनकी गद्यभाषा के स्वरूप का उल्लेख भी यथोचित रीति से कर दिया गया है। तदनन्तर उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास की चर्चा कर दी गई है। इस इतिहास के अन्तर्गत साहित्यिकता के अंश को तर्क के आधार पर निर्दिष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसी प्रसंग में शुक्लजी के गद्यानुवादों की भी चर्चा कर दी गई है। विश्वप्रपंच कल्पना का आनन्द तथा शशांक का विशेषतया उल्लेख कर दिया गया है। 'शशांक' के प्रसंग में हिन्दी गद्य के विकास में शुक्लजी की देन का स्पष्ट संकेत कर दिया गया है। उनकी गद्य

भाषा पर भी संक्षिप्त रूप से विचार इस प्रसंग में हो गया है।

इस प्रकार शुक्लजी के आचार्यत्व तथा साहित्यकार रूप की विशद विवेचना करने के उपरान्त अन्तिम प्रकरण में उनके स्थान व महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए आधुनिक आलोचकों की उक्तियाँ संक्षेप से प्रस्तुत कर दी गई हैं। यह यत्न किया गया है कि शुक्लजी के सम्बन्ध में हिन्दी तथा आलोचना-क्षेत्र में व्याप्त विरोधी-अविरोधी धारणाओं से छात्रों को सामान्य परिचय हो जाए। जिन समीक्षक महोदयों की चर्चा इस प्रकरण में की गई है मेरे हृदय में उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा विद्यमान है। यदि कहीं मतभेद भी प्रदर्शित करने का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से प्रयास किया गया है वह केवल शुक्लजी के मन्तव्यों को स्पष्ट करने की दृष्टि से किया गया है।

आशा है कि मेरा यह प्रयास आचार्य शुक्लजी के पाठकों के लिए विशेष उपयोगी प्रमाणित होगा। निस्सन्देह शुक्लजी पर अनेक ग्रन्थ व लेख इससे पूर्व लिखे जा चुके हैं। मेरा प्रयास सर्वथा नवीन तथा मौलिक नहीं तथापि शुक्लजी के आचार्यत्व तथा साहित्यकार के रूप को स्पष्ट करने में इसमें जिस पद्धति का अनुसरण किया गया है वह मेरी अपनी है मौलिक है तथा अनुभवप्रसूत है। अपने छात्रों को इसी पद्धति से पढ़ाते हुए मैंने इसकी उपयोगिता अनुभव की है अतएव आज इसे पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करने का मैंने यह दुस्साहस किया है। यदि मेरा यह प्रयास आचार्य शुक्ल के पाठकों में रुचि उत्पन्न कर सका तो मैं अपने-आपको धन्य समझूँगा।

लेखक

विषय सूची

करता होगा जिससे उनका साहित्य-वृक्ष पल्लवित हो रहा है।

व्यक्ति का ज्ञान केवल अपने समुचित विकास के लिए पार्श्ववर्ती परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। उसकी नैसर्गिक प्रतिभा विभिन्न अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों का प्रभाव पाकर ही विकसित होती है। इस तथ्य के अनुसार हम यह कह सकते हैं कि शुक्लजी के साहित्यिक-व्यक्तित्व के निर्माण में उनकी वैयक्तिक जीवन सम्बन्धी परिस्थितियों का पूरा हाथ है अतः शुक्लजी के वैयक्तिक जीवन की झाँकी के दर्शन करना भी नितान्त उपादेय है।

जन्म-कुल किंवा परिचय—भारत के संयुक्त प्रान्त में शुक्ल ब्राह्मणों को हिन्दु-समाज में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसी कुल में जन्म ग्रहण करने के कारण भी रामचन्द्र शुक्ल कभी हीन भावना के शिकार नहीं हुए, परन्तु पारिवारिक परिस्थितियाँ उनकी अपनी नैसर्गिक प्रतिभा एवं प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं हो सकी। धार्मिक दृष्टि से तो उनके पूर्वज सामान्यतया सम्पन्न कहे जा सकते हैं। उनके पितामह श्री शिवदत्त शुक्ल गोरखपुर जिले में घाघरा नदी के किनारे भेड़ी नामक गाँव में रहते थे और कभी-कभी बस्ती जिले के अन्तर्गत नगर-रियासत के राज परिवार में सम्मिलित हुआ करते थे। नगर-रियासत की रानी उनकी दादी को अपनी धर्मपुत्री समझती थी इसीलिए उनके पितामह के छोटी आयु में ही परलोक सिधारने के पश्चात् उनकी दादी नगर की रानी के पास आकर रहने लगी। तदनुसार रानी ने नगर के पास ही अगोना नामक गाँव में उनकी दादी को कुछ भूमि दे दी तथा निवास के योग्य भवन भी बनवा दिया। उनके पिता चन्द्रबली शुक्ल का यहीं पालन-पोषण सुविधाजनक परिस्थितियों में हुआ। शिक्षा-दीक्षा में भी विशेष कठिनाई नहीं हुई। उर्दू-फारसी की उत्तम शिक्षा प्राप्त करके वे उच्च शिक्षा के लिए काशी के क्वीन्स कालिजिएट स्कूल में प्रविष्ट हो गए और मैट्रिक पास करके वे सरकारी नौकर हो गए। इसी समय अगोना नामक गाँव में विक्रमी संवत् १९४१ तदनुसार सन् १८८४ में आश्विन पूर्णिमा के शुभ दिन रामचन्द्र शुक्ल का जन्म हुआ।

प्रारम्भिक जीवन—चार वर्ष की आयु तक उनका पालन-पोषण अगोना गाँव में ही हुआ। तत्पश्चात् सन् १८८८ में उनके पिता जिला हमीरपुर की राठ तहसील में सुपरवाइजर कानूनगो हो गए और वे भी अपने पिता के साथ ही राठ में रहने लगे। छः वर्ष की अवस्था में पं० गंगाप्रसाद से वे अक्षर ज्ञान प्राप्त करने लगे। प्रारम्भ में ही उनकी प्रवृत्ति हिन्दी पढ़ने की ओर थी। यह सहज हिन्दी-प्रेम पारिवारिक परिस्थितियों में बाल-हृदय में दृढ़ स्थान प्राप्त करने लगा। उनकी दादी 'रामायण' और 'सूरसागर' का पाठ करतीं और पिता 'रामचन्द्रिका' और भारतेन्दु के नाटकों का अध्ययन करते तो वे बड़ी तन्मयता से उन्हें श्रवण करते थे। उनकी सहज रुचि अनुकूल स्थिति पाकर समृद्ध होने लगी। सन् १८९२ में उनके पिता की नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर में हुई। जीवन की परिस्थितियाँ उनमें किशोरावस्था के शुभागमन के साथ ही जीवन दिशा में नवीन मोड़ दृष्टिगोचर होने लगा। माता की मृत्यु के पश्चात् वे अपने पिता के साथ मिर्जापुर में आकर रहने लगे।

अध्ययन तथा विवाह—रामचन्द्र शुक्ल नौ वर्ष की आयु में मिर्जापुर पहुँचे और वहाँ जुबली स्कूल में उर्दू के साथ अंग्रेजी पढ़ने लगे। 'मिडिल' पास करने से पूर्व ही बारह वर्ष की आयु में उनका विवाह हो गया। विवाह के उपरान्त भी पठन-कार्य चलता रहा और दो-अढ़ाई वर्ष में मिडिल पास कर लिया। लगभग सत्रह वर्ष की आयु में एन्ट्रैन्स पास करने के उपरान्त वे अपनी पढ़ाई आगे न चला सके। उनके पिता ने दूसरा विवाह करवा लिया था। गृह कलह से खिन्न होकर उन्हें अपनी पढ़ाई स्थगित करनी पड़ी। इस प्रकार विश्वविद्यालय की उच्च परीक्षा उत्तीर्ण कर बड़ी उपाधि प्राप्त करने से वे वंचित रह गए।

स्वतंत्र अध्ययन—पिता के साथ अपनी विमाता के कारण संघर्ष रहने से वे अपनी शिक्षा किसी महाविद्यालय में चालू न रख सके परन्तु स्वतन्त्र रूप से पठन-कार्य निरन्तर चलता रहा। पुस्तकों के पढ़ने का तो मानो उनको एक व्यसन-सा ही था। स्थानीय लाइब्रेरी से अंग्रेजी की पुस्तकें लाना और

एक-एक बजे रात तक पढ़ते रहना उनका प्रतिदिन का काम हो गया था। हिन्दी साहित्य की भी अनेक पुस्तकें उन्होंने स्वतन्त्र रूप से पढ़ डालीं। भारत जीवन प्रेस के रामकृष्ण वर्मा उनके पिता के सहपाठी थे अतः इस प्रेस की प्रायः सभी नव प्रकाशित पुस्तकें घर में आ जाती थी और वे उन्हें किसी प्रकार से पढ़ लिया करते थे। इस स्वतन्त्र अध्ययन ने उनकी सहज साहित्यिक रुचि को विकसित एवं समृद्ध करने में उल्लेखनीय सहायता प्रदान की। काशी के पं० केदारनाथ पाठक से परिचय हो जाने से उन्हें हिन्दी और बंगला की अच्छी-अच्छी पुस्तकें सुप्राप्य हो गईं। मिर्जापुर में 'पाठक' जी ने एक हिन्दी पुस्तकालय खोला था। वहाँ से भी उन्हें पुस्तकें पढ़ने का सुअवसर प्राप्त होता रहा और उनके साहित्यिक परिचय में वृद्धि करने की दृष्टि से विशेष उपयोगी प्रमाणित हुआ।

सत्संगति का प्रभाव—पुस्तकों के निरन्तर अध्ययन के साथ शुक्ल जी को हिन्दी-संस्कृत साहित्य के विद्वान् महापुरुषों की संगति में रहने का सौभाग्य भी मिलता रहा। उनके पड़ोसी विन्ध्येश्वरीप्रसाद संस्कृत साहित्य के एक भावुक एवं तेजस्वी विद्वान थे। उनके सम्पर्क से उनमें संस्कृत सीखने की रुचि उत्पन्न हुई और हिन्दी-प्रेम को स्थिरता प्राप्त हुई। यह हिन्दी प्रेम बाबू काशीप्रसाद जायसवाल के सम्पर्क में आने से और भी अधिक दृढ़ होता चला गया। बाबू समर्थसिंह डिप्टी कलक्टर के घर पर होने वाली महाभारत रामायण श्रीमद्भागवत पुराण आदि प्राचीन सांस्कृतिक ग्रन्थों की कथाओं के श्रवण से भी उनके मन पटल पर भारतीयता के बीज अंकुरित होते रहे। भारतीय वेश भूषा के प्रति किशोरावस्था में आकर्षण भी इसी सत्संगति का प्रभाव कहा जा सकता है।

विरोधी वातावरण—शुक्ल जी के मन में हिन्दी प्रेम के संस्कारों के पनपने में विरोधी वातावरण भी पर्याप्त सहायक कहा जा सकता है। उनके पिता ब्राह्मण होने पर भी खान-पान वेशभूषा की दृष्टि से एक मौलवी दृष्टिगोचर होते थे। उन्हें संस्कृत-हिन्दी बेहूदा भाषाएँ प्रतीत होती थी। उर्दू की शिष्टता के वे परम भक्त थे। धोती पहनकर बाहर निकलना तथा

नंगे सिर रहना उनकी दृष्टि में एक दण्डनीय अपराध था। शुक्लजी के सहज विकास के मार्ग में पिता की यह तथाकथित शिष्टता बाधक थी। प० विन्ध्येश्वरीप्रसाद की शिष्यमण्डली में बिचरने के कारण इनको भारतीय वेषभूषा अधिक प्रिय हो रही थी। धोती पहनकर वे प्राय इस मण्डली के साथ मिर्जापुर में घूमते रहते थे। धोती पहनने के कारण वे प्राय अपने पिता से बदजात बदतमीज बेहूदा नालायक आदि अपशब्द सुना करते थे। परन्तु इस विरोधी वातावरण से भी उनके सहज संस्कारों पर गहरी चोट नहीं थी। उनकी सहज भारतीयता अक्षुण्ण रूप से आजीवन विद्यमान रही। विमाता का दुर्व्यवहार पिता की कठोरता शुक्लजी के सहज विकास में बाधक न बन सकी अपितु उनकी सहज प्रकृति को सम्बन्धी परिचित महानुभावों से प्रोत्साहन मिलता चला गया। हाँ इस विरोधी वातावरण से विश्वविद्यालय की कक्षाओं में नियमित रूप से पढ़ने का सुअवसर उन्हें न मिल सका। पिता ने उनको वकालत पढ़ने के लिए प्रयाग भेजा परन्तु उनकी सहज रुचि इस ओर न होने के कारण वे वकील न बन सके। उनका सहज साहित्यिक हृदय कचहरी के वातावरण से सर्वथा प्रतिकूल था। अत एव पिता की इच्छा के अनुरूप वे वकालत उत्तीर्ण न कर सके।

प्राकृतिक वातावरण—शुक्ल जी का जन्म तथा पालन-पोषण प्राकृतिक वातावरण में हुआ था। उनका जन्म स्थान अगोना गाँव हरे भरे खेतों तथा अमराइयों से घिरा हुआ था। उनकी किशोरावस्था प्राकृतिक सौन्दर्य से ओत प्रोत मिर्जापुर में व्यतीत हुई थी। मिर्जापुर की जिस 'रमई पट्टी' में वे अपने पिता के साथ रहते थे वह स्थान प्राकृतिक सुषमा-सम्पन्न था। हरे-भरे खेतों में तथा सुदूरपर्यन्त फैली हरित-कुसुमित वन-पंक्तियों में नदी-नालों की कलकल ध्वनि से पूरित वन-पर्वतों में परिभ्रमण करने का सौभाग्य किशोर शुक्ल को अनायास ही उपलब्ध हो गया था। इस अचेतन मरम प्रकृति ने केवल शुक्ल की भावना को तरल बनाने में सहृदय एवं साहित्यिक बनाने में पूर्ण सहयोग प्रदान किया था। पार्श्ववर्ती वन्यस्थलियों में विनोद-विहार ने उनके मानसिक विकास में उल्लेखनीय योगदान दिया था।

साहित्यिक वातावरण—शुक्लजी के मानसिक विकास में प्राकृतिक वातावरण के साथ तत्कालीन साहित्यिक वातावरण को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। हिन्दी साहित्य का यह अभ्युदय-काल था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनकी मित्रमण्डली के अथक प्रयास से हिन्दी साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का श्रीगणेश हो रहा था। इसी वातावरण के कारण शुक्ल का बाल-हृदय भारतेन्दु से अत्यन्त प्रभावित हुआ था। मनोवृत्ति शुक्ल उस समय पुराण-गाथाओं में प्रसिद्ध सत्यवादी हरिश्चन्द्र और बीसवीं सदी के साहित्यकार हरिश्चन्द्र में कोई अन्तर नहीं समझता था। अपने 'आत्म-संस्मरण' में वे स्वयं लिखते हैं —

"'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बालबुद्धि कोई भेद नहीं कर पाती थी।"

आर्थिक स्थिति—शुक्ल जी को शिक्षा-काल में आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा था। अपनी विमाता से उनकी बनती नहीं थी। इसी कारण उनके पिता उनकी आर्थिक सहायता नहीं कर पाते थे। अतः उन्हें अपने अध्यवसाय के बल पर शिक्षा प्राप्त करनी पड़ी थी। अन्त में उनकी कर्मठता तथा अध्यवसाय से प्रभावित होकर उनके पिता आर्थिक सहायता के लिए उद्यत हो गए थे। पिता के चरित्र में उनकी इन विशेषताओं ने पर्याप्त परिवर्तन कर दिया था। वकालत की परीक्षा में अनुत्तीर्ण होकर जब वे घर आए तो उन्होंने देखा कि उनके पिता अब हिन्दी की ओर झुक रहे हैं। रामायण, रामचन्द्रिका आदि हिन्दी-ग्रन्थ बड़ी भक्ति से पढ़ने लगे हैं। भारतेन्दु के ग्रन्थों का भी अनुशीलन चल रहा है। इससे शुक्लजी को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला परन्तु उन्हें शीघ्र ही आजीविका के लिए मिर्जापुर के लन्दन मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर बनना पड़ा। बीस रुपये मासिक वेतन पर उन्हें यह कार्य अपनी आर्थिक विवशताओं के कारण ही करना पड़ा। पच्चीस वर्ष की आयु तक वे यही कार्य करते रहे। तदुपरान्त वे काशी चले आए। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिन्दी-कोश का प्रकाशन प्रारम्भ हो रहा था। इस कोश के लिए शब्द-संग्रह का कार्य सर्वप्रथम शुक्ल जी को

सौंपा गया। संग्रह-कार्य समाप्त हो जाने के उपरान्त उन्हें सहायक सम्पादक के रूप में नियुक्त कर दिया गया। शुक्लजी के जीवन में काशी-आगमन एक प्रधान घटना है। उनके जीवन का अवशिष्ट भाग काशी में व्यतीत हुआ। कोश-सम्पादन का कार्य समाप्त हुआ तो उन्हें हिन्दू विश्वविद्यालय में ही निबन्ध-कला-शिक्षक के रूप में स्थान मिल गया। उस समय डा० श्यामसुन्दरदास हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। उन्होंने स० १९९४ तदनुसार सन् १९३७ में इस अध्यक्ष-पद से अवकाश ग्रहण कर लिया। वह स्थान शुक्ल जी को दिया गया। वे फिर जीवन भर इसी अध्यक्ष-पद पर आसीन रहे।

रचना कार्य—शुक्ल जी की साहित्यिक प्रतिभा यद्यपि सृजन तथा भावन दोनों व्यापारों में प्रकट हुई तथापि इनकी भावन सम्बन्धी प्रतिभा ने हिन्दी साहित्य को अधिक प्रभावित किया है। तेरह वर्ष की आयु में ही उनकी सृजनात्मक प्रतिभा अपना स्वरूप उद्भासित करने लग गई थी। सर्वप्रथम नाटक रचना की ओर इस प्रतिभा ने उन्हें अग्रसर किया। 'हास्य विनोद' नाटक उनका साहित्यिक रचना की दिशा में पहला पग था। यह नाटक प्रकाशित न हो सका। उनके एक मित्र ने उसे फाड़ कर फेंक दिया था। 'पृथ्वीराज' नाटक के केवल दो अंक ही उन्होंने लिखे और उसे अधूरा छोड़ दिया। इसी आयु में समय-समय पर वे कवित्त और दोहे भी लिखते रहे। तत्कालीन 'सरस्वती' 'आनन्द कादम्बिनी' आदि पत्रिकाओं में उनके किशोर-काल की मौलिक रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। सोलह वर्ष की अवस्था में उनकी 'मनोहर छटा' नाम की एक कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इसी काल में उनकी 'शिशिर-पथिक' 'वसन्त पथिक' 'भारत-वसन्त' 'पूर्णिवी' आदि रचनाएँ उक्त पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं।

उनकी सृजनात्मक प्रतिभा रचनात्मक साहित्य से हटकर अनुवाद कार्य की ओर प्रवृत्त हुई और उन्होंने अपनी स्वल्पावस्था में ही अंग्रेजी लेखों तथा पुस्तकों का अनुवाद करना प्रारम्भ किया। Addison की Essays on Imagination पुस्तक का अनुवाद 'कल्पना का आनन्द' शीर्षक

साहित्यिक वातावरण—शुक्लजी के मानसिक विकास में प्राकृतिक वातावरण के साथ तत्कालीन साहित्यिक वातावरण को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। हिन्दी साहित्य का यह अभ्युदय-काल था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनकी मित्रमण्डली के व्यापक प्रभाव से हिन्दी साहित्य में नवीन प्रवृत्तियों का श्रीगणेश हो रहा था। इसी वातावरण के कारण शुक्ल का बाल-हृदय भारतेन्दु से अत्यन्त प्रभावित हुआ था। बालोन्मति शुक्ल उस समय पुराण-गाथाओं में प्रसिद्ध सत्यवादी हरिश्चन्द्र और बीसवीं सदी के साहित्यकार हरिश्चन्द्र में कोई अन्तर नहीं समझता था। अपने 'आत्म-संस्मरण' में वे स्वयं लिखते हैं—

"सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र और कवि हरिश्चन्द्र में मेरी बालबुद्धि कोई भेद नहीं कर पाती थी।

आर्थिक स्थिति—शुक्ल जी को शिक्षा-काल में आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा था। अपनी विमाता से उनकी बनती नहीं थी। इसी कारण उनके पिता उनकी आर्थिक सहायता नहीं कर पाते थे। फलतः उन्हें अपने अध्यवसाय के बल पर शिक्षा प्राप्त करनी पड़ी थी। अन्त में उनकी कर्मठता तथा अध्यवसाय से प्रभावित होकर उनके पिता आर्थिक सहायता के लिए उद्यत हो गए थे। पिता के चरित्र में उनकी इन विशेषताओं ने पर्याप्त परिवर्तन कर दिया था। वकालत की परीक्षा में अनुत्तीर्ण होकर जब वे घर आए तो उन्होंने देखा कि उनके पिता अब हिन्दी की ओर झुक गये हैं। रामायण रामचन्द्रिका आदि हिन्दी-ग्रन्थ बड़ी भक्ति से पढ़ने लगे हैं। भारतेन्दु के ग्रन्थों का भी अनुशीलन चल रहा है। इससे शुक्लजी को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला परन्तु उन्हें शीघ्र ही आजीविका के लिए मिर्जापुर के लन्दन मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर बनना पड़ा। बीस रुपये मासिक वेतन पर उन्हें यह कार्य अपनी आर्थिक विवशताओं के कारण ही करना पड़ा। पच्चीस वर्ष की आयु तक वे यही कार्य करते रहे। तदुपरान्त वे काशी चले आए। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिन्दी-कोश का प्रकाशन प्रारम्भ हो रहा था। इस कोश के लिए शब्द-संग्रह का कार्य सर्वप्रथम शुक्ल जी को

से नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार Megasthenes की India नामक पुस्तक का अनुवाद 'मेगास्थनीज का भारतवर्षीय विवरण' के नाम से सर टी माधवराव के Minor Hints का अनुवाद 'राज्य प्रबन्ध शिक्षा' के नाम से Plain living and high thinking का अनुवाद 'आदर्श जीवन' के नाम से 'Riddle of the Universe का अनुवाद 'विश्वप्रपंच' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार बाबू राधाकृष्णदास का जीवन चरित्र बुद्धचरित्र शशांक आदि कई अनूदित ग्रन्थ प्रकाशित हुए।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सम्पादन कार्य ने तथा हिन्दू विश्व विद्यालय में अध्यापन कार्य ने उनकी भावमयी प्रतिभा को उत्तेजित किया और वे निबन्ध रचना की ओर सोत्साह प्रवृत्त हुए। अपने समृद्ध बुद्धि-बल से वे गम्भीर से गम्भीरतम साहित्यिक मनोवैज्ञानिक विषयों पर निबन्ध लिखने लगे और भावमयी प्रतिभा के पूर्ण विकसित हो जाने पर वे काव्य मीमांसक आचार्य के रूप में हमारे सामने प्रकट हुए। उनके कविता क्या है 'काव्य में रहस्यवाद' 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' 'भारतेन्दु समीक्षा' 'उपन्यास' 'भाषा का विस्तार' आदि अनेक निबन्ध विचार-वीथी और चिन्तामणि नामक संग्रहों में प्रकाशित हुए। 'तुलसी ग्रन्थावली की भूमिका' 'जायसी ग्रन्थावली की भूमिका' 'सूरदास' भ्रमरगीतसार' आदि तथा आलोचनाएँ भी उनकी उत्कृष्ट कोटि की भावमयी प्रतिभा के प्रमाण स्वरूप कही जा सकती हैं। उक्त निबन्धों में समालोचनात्मक भूमिकाओं में शुक्ल जी के काव्य सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त मान्यताएँ व धारणाएँ विन्यस्त हुई हैं। काव्य निरूपण की दृष्टि से उनके विभिन्न लेखों का 'रस मीमांसा' नामक संग्रह विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार काव्य विषयों पर अपने गम्भीर अनुशीलन के आधार पर रचनाएं प्रस्तुत करके शुक्ल जी ने अपने जीवन की संचित विभूति हिन्दी साहित्य को प्रदान कर दी। श्री रामचन्द्र शुक्ल का यह जीवन हिन्दी साहित्य के विकास प्रसार व विस्तार में एक शुभ वरदान माना जा सकता है।

अन्त —शुक्ल जी को साहित्यिक वीर की श्रेणी में परिगणित किया जा सकता है। अपनी साहित्यिक धारणाओं व मान्यताओं के प्रकाशन में पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क से उदीयमान नवीन प्रवृत्तियों के प्राथमिक समर्थन व विरोध में प्राचीन भारतीय काव्य-परम्पराओं के विश्लेषण में और उनके प्रति अपनी सम्मति के प्रकाशन में जिस निर्भयता एवं साहस की अपेक्षा है वह हम शुक्ल जी के व्यक्तित्व में परिलक्षित होती है। अपनी इस वीरता के सहारे साहित्यिक क्षेत्र में अपनी विजयदुन्दुभी बजाता हुआ यह वीर २ फरवरी सन् १९४१ तदनुसार विक्रमी सम्वत् १९९८ में अपनी इह लीला का संवरण कर हमसे पृथक हो गया। भौतिक शरीर से हिन्दी साहित्य का यह वियोग असह्य है। शुक्ल जी का आध्यात्मिक जीवन अब भी हिन्दी साहित्य की प्रगति में स्वरूप-निर्धारण में अपना समुचित योग प्रदान कर रहा है। उनकी धारणाएं अब एक परम्परा प्रणाली या वाद का रूप धारण करती प्रतीत होती हैं। भौतिक विभूतियों से सामान्य परन्तु साहित्यिक प्रतिभा से सम्पन्न शुक्ल हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य निधि के रूप में अमर हो गए हैं। इस क्षेत्र में अब वह अकेला नहीं है उनके साथ एक सम्प्रदाय है, धारा है। हिन्दी साहित्य-गगन में शुक्ल जी की शुभ्रता अपनी महत्त्वपूर्ण शुभ्रता का प्रसार करती दृष्टिगोचर होती है।

व्यक्तित्व-विश्लेषण आत्म सम्मान —सीधे सादे सामान्य रहन सहन वाले दुबले-पतले शुक्ल जी का व्यक्तित्व विभिन्न विशेषताओं का संगम था। उनके व्यक्तित्व की सर्वप्रथम विशेषता 'आत्म सम्मान' की भावना है। मिर्जापुर के कलक्टर ने शुक्ल जी की धार्मिक सम्बन्धी कुशलता से प्रसन्न होकर उन्हें एक अंग्रेजी आफिस में बीस रुपये मासिक की नौकरी दिलवाई थी परन्तु उनके आत्म सम्मान ने अधिक दिनों तक वहां टिकने न दिया। एक बार कार्यालय के प्रधान लेखक ने उनसे रविवार को भी आने के लिए कहा। इसी बात को अपमानजनक समझकर उन्होंने इस कार्य से त्याग पत्र दे दिया। इसी प्रकार उनके पिता की प्रार्थना पर कलक्टर महोदय ने उनकी नायब तहसीलदारी के लिए सिफारिश की थी परन्तु उन्होंने अपनी

आत्म सम्मान की भावना से प्रेरित होकर इस प्रलोभन को भी तिलांजलि दे दी थी। उनका यह दृढ़ विचार था—'आत्म सम्मान की रक्षा करते हुए कांटों पर घसीटा जाना अच्छा है पर इसे खोकर फूलों में तुलना अच्छा नहीं'। इसी त्यागपत्र के साथ उन्होंने एक लेख इण्डियन रिव्यू पत्रिका में प्रकाशित करवाया। लेख का शीर्षक था—What has India to do ? इस लेख को पढ़कर कलक्टर ने अपनी सिफारिश वापस ले ली थी। इस प्रकार आत्म सम्मान की भावना उनको नायब तहसीलदारी से दूर ले गई और साहित्य के स्वच्छन्द वातावरण की ओर ले गई। इसी आत्म सम्मान की भावना के कारण वे अलवर के महाराजा के पास भी नौकरी न कर सके और चार सौ रुपये मासिक वेतन का मोह छोड़कर फिर हिन्दी साहित्य की सेवा के लिए काशी विश्वविद्यालय में आ गए।

गम्भीरता : विनोद प्रियता—शुक्ल जी के व्यक्तित्व में गम्भीरता और विनोदप्रियता का विलक्षण सामंजस्य है। घर की विपरीत परिस्थितियों ने उन्हें गम्भीर एवं आत्मचिन्तनरत बना दिया था। नौ वर्ष की अवस्था में माता की मृत्यु और बारह वर्ष की आयु में विवाह विमाता के दुर्व्यवहार तथा आर्थिक संकट के कारण उनकी प्रकृति अधिकतर अन्तर्मुखी हो गई थी। इसी गम्भीरता ने उन्हें हिन्दी साहित्य गगन में देदीप्यमान होने की शक्ति प्रदान की। इसी के कारण वे प्राकृतिक सौन्दर्य के आंकने में मानव जीवन के साथ प्रकृति के सम्बन्ध को स्पष्ट करने में मानव प्रकृति के विविध रूपों के निरीक्षण में प्राच्य तथा पाश्चात्य साहित्यिक तत्त्वों के विश्लेषण में तुलसी सूर जायसी आदि महाकवियों के साहित्य के मर्म को समझने में हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों की विविध प्रवृत्तियों के अनुशीलन में समर्थ हो सके हैं। इस गम्भीरता की छाप उनकी प्रत्येक साहित्यिक कृति पर प्रतिबिम्बित होती देखी जा सकती है। जीवन की विकट परिस्थितियाँ किस प्रकार मानव जीवन को बहुमूल्य बना देती हैं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण शुक्ल जी का जीवन माना जा सकता है।

विनोद प्रियता—उक्त गम्भीरता परिस्थिति जन्य थी। उनकी मेस

गिक प्रकृति में विनोद की समुचित मात्रा विद्यमान थी। गम्भीरता के तले दबी यह विनोद-प्रियता अवसर पाकर फूटती रही है। सर्वप्रथम 'हास्य विनोद' नामक नाटक प्रहसन के रूप में उनकी इस सुप्त वृत्ति के दर्शन होते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास जी के कथनानुसार यह नाटक उन्होंने तेरह वर्ष की आयु में ही लिखा था। जीवन की सामान्य घटनाओं में भी इस विनोद वृत्ति का आभास मिलता है। श्री कृष्ण शंकर व्यास ने 'हिन्दुस्तान साप्ताहिक' के होली-विशेषांक में उनके जीवन की एक इसी प्रकार की घटना का उल्लेख किया है। एक बार व श्री भगवानदीन के साथ एक ऐसी दुकान पर शरबत पीने गए जहाँ एक परिचारिका ग्राहकों की सेवा के लिए नियुक्त थी। शरबत पिलाने के अनन्तर दुकानदार ने उनसे तीन आने के स्थान पर दस आने माँगे तब उन्होंने भगवानदीन से विनोदपूर्वक कहा कि—"दस आने ही दे दीजिए, क्योंकि इसमें परिचारिका के सरबते-दीदार की कीमत भी सम्मिलित है।" इसी प्रकार की एक घटना का शिवनाथ जी ने भी लिखी है उन्होंने लिखा है—"स्वर्गवास के कुछ ही दिन पूर्व शुक्ल जी अयोध्या गए थे। वहाँ सरयू के किनारे एक बालक को उन्होंने 'साहब की टोपी ऊँची रहे' 'साहब की टोपी ऊँची रहे' रटते सुना। मैं उसके पास गए उसे कुछ देकर कहा—यदि तुम चाहते हो कि स्त्रियाँ भी तुम्हें कुछ दिया करें तो पास से जब किसी स्त्री को जाते देखो तब चट बोल उठो—'मेम साहब की जूती ऊँची रहे, मेम साहब की जूती ऊँची रहे।"

हास्य-व्यंग्य—विनोद वृत्ति का हास्य-व्यंग्य के साथ अटूट सम्बन्ध है। अपनी इसी सहजवृत्ति के कारण हम शुक्लजी को गम्भीर से गम्भीरतम विषयों का प्रतिपादन करते हुए गाम्भीर्यपूर्ण शैली के मध्य में मूर्खों, मसूर वर्तियों, धर्म साधुओं, प्रसाहित्यिकों, पाखण्डियों, विरागियों का उपहास करते उनके प्रति फबतियाँ कसते चुटकियाँ लेते और व्यंग्य प्रकट करते देखते हैं। हिन्दू समाज गीता का बड़ा सम्मान करता है परन्तु उसके आचरण में और गीता के निष्काम कर्मवाद में आसमान-पाताल का अन्तर है। हिन्दुओं की इस प्रमादवृत्ति पर शुक्लजी ने बड़ी विदग्धता से व्यंग

प्रतीत होती है। 'श्रद्धा भक्ति' शीर्षक लेख में ही उन्होंने अपनी इस प्रवृत्ति को स्पष्ट समझा दिया है। वे लिखते हैं— 'समाज में ये वस्तुएँ सच्चे गुणियों और परोपकारियों के लिए हैं, पर इन्हें छीनने और चुराने की ताक में बहुत से चोर-चाई और लुटेरे रहते हैं जो इनके द्वारा स्वार्थ-साधन करना या अपनी क्षुद्र मानसिक वृत्तियों को तुष्ट करना चाहते हैं। इनसे समाज को दूर भी सावधान रहना चाहिए—इन्हें सामाजिक दण्ड देने के लिए उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिए। ये अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका पीटता दिखाई देता है, कोई देश हितैषिता का लम्बा चोगा पहने देशोद्धार की पुकार करता पाया जाता है।"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि शुक्लजी में सात्विकता से अनुराग और कृत्रिमता से विरक्ति है। इन दोनों गुणों के मूल में विद्यमान उनकी सामाजिक वृत्ति भी विशेष उल्लेखनीय है। लोक-कल्याण-भावना उनके जीवन का एक प्रमुख तथ्य है। हम उनके जीवन-दर्शन में साहित्यिक विवेचन में सर्वत्र इसी भावना को अन्तर्निहित देख सकते हैं। यदि वे भावों में से 'करुणा' को महत्त्व देते हैं, यदि वे 'लोभ' जैसे उद्भाव की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं, यदि वे राम-साहित्य को कृष्ण-साहित्य से अधिक प्रधानता देते हैं, यदि वे मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य में अपनी रुचि प्रदर्शित करते हैं, यदि वे काव्य में उपमानों के वर्णन में भी उत्कर्ष की कल्पना करते हैं, यदि वे छायावादी रचनाओं के प्रति अपनी आंशिक विरक्ति झलकाते हैं, यदि वे ऐकान्तिक प्रेम के विषय में लोक जीवन-संश्लिष्ट प्रेम के वर्णन को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं, यदि वे गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म के रूप में धर्म की भूमियाँ कल्पित करते हैं, यदि वे रूप सौन्दर्य के साथ कर्म सौन्दर्य की भी प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, यदि वे शील गुण को सबसे अधिक श्रद्धेय समझते हैं, यदि वे 'उत्साह' की गणना सद्गुणों में करते हैं, यदि वे पाप के कर्म को छिपाने वाले को पाप छिपाने वाले की अपेक्षा अधिक अपराधी सिद्ध करते हैं, यदि वे राम के जीवन के साथ रावण के जीवन में भी उपयोगिता की सृष्टि कर लेते हैं, यदि वे

निर्गुण भक्ति के समक्ष सगुण भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं यदि वे भक्ति के सामाजिक महत्त्व को इसकी लोक-हितकारिणी शक्ति को स्वीकार करते हैं यदि वे कलाओं में साधन-सम्पन्नता की अपेक्षा उनसे पड़ने वाले मनोहारी प्रभाव का अधिक मूल्य आँकते हैं यदि वे पक्के राग गाने वालों के स्वर संधान को आठ अंगुल मुँह फैलाना या स्वरग्राम की लम्बी-चौड़ी कवायद कहते हैं, यदि वे सच्चा विश्राम उसे ही समझते हैं जो काम का भण्डारी भी हो और उपयोग-कर्त्ता भी हो यदि वे नीतिवादी हैं और काव्य में व्यावहारिक उपयोगिता का अनुसंधान करते हैं यदि वे सदाचारी एवं लोकोपकारी के प्रति नतमस्तक होना परम कर्त्तव्य मानते हैं तो केवल इसीलिए कि वे लोकवादी हैं लोक-संग्रह की भावना से ओत प्रोत हैं। उनकी सामाजिकता उनके सारे कृतित्व पर सघनता से प्रतिच्छायित है। उनके व्यक्तित्व का समाहार इसी लोकवाद में किया जा सकता है। लोक मंगल भावना ने उनके व्यक्तित्व को चार चाँद लगा दिये हैं। वह हमारे लिए अनुकरणीय एवं उपादेय बन गया है।

प्रकृति-प्रेम—शुक्लजी के व्यक्तित्व की समीक्षा करते हुए यदि उनके प्रकृति-प्रेम की चर्चा न की जाए तो यह समीक्षा अधूरी कहलाएगी। लोक-संग्रह की भावना के समान उनके प्रकृति-प्रेम ने भी उन्हें अत्यन्त गहराई के साथ प्रभावित किया है। शुक्लजी के जीवन से प्रकृति का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वे प्रकृति के अनन्य प्रेमी थे। बाल्यकाल से ही उनका यह प्रकृति-प्रेम उत्कृष्ट रूप में प्रकट होने लगा था। वनस्पतियों में विहार करना कलकल-निनाद करती जलधारा का चिरकाल तक अवलोकन करना सघन विटपों के शाखा-पल्लवों की हरीतिमा से उल्लसित होना सघन कुंजों की शीतल छाया में निरन्तर विश्राम करना पर्वतों की चोटियों पर विहार करना उनके बाल्यकाल के जीवन का प्रमुख अंग था। यह प्रकृति-प्रेम आजीवन उनमें स्थिरता से विद्यमान रहा। बड़ी आयु में भी वे यथावसर वन विहार का आनन्द उठाने में प्रवृत्त होते रहे। उनका यह प्रकृति प्रेम उनके लेखों में भी यथास्थान उभरता परिलक्षित होता है। 'लोभ और प्रीति'

शीर्षक लेख में उन्होंने देश-प्रेम की व्याख्या के प्रसंग में उनकी ये पंक्तियां उनके हृदय में बीज रूप से विद्यमान प्रकृति-प्रेम को ही झलकाती हैं। वे कहते हैं—"बाहर निकलो तो आँख खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल हो रही है चौपायों के झुण्ड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं। एक-एक शब्द से प्रकृति-प्रेम की मधुर धारा प्रवाहित हो रही है। प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ के प्रति उनके हृदय में आकर्षण है। वे प्रकृति के मधुर, कोमल तथा सुरूप पदार्थों से ही आकृष्ट नहीं होते अपितु उनके लिए भीषण कठोर तथा कुरूप प्राकृतिक दृश्य भी विमोहक बन जाते थे। वे उन लोगों में से नहीं थे जिन्हें प्रकृति के सामान्य पदार्थों में तल्लीन होने में असभ्यता की गन्ध आती है। उसी लेख में ही वे अपने एक सज्जन मित्र की चर्चा करके ऐसे भावों के प्रति अरुचि प्रदर्शित कर देते हैं। वे लिखते हैं—"मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर एक छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा-सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत-से हैं। वसन्त का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—"महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।" इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोक कर कहा "यहाँ महुए-सहुए का नाम न लीजिए लोग देहाती समझेंगे। मैं चुप हो गया समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।

यह स्पष्ट है कि शुक्लजी प्रकृति के पदार्थों के प्रति अपनी रुचि प्रकट करने में संकोच नहीं करते थे। काव्य सिद्धान्तों के विवेचन में भी उनका यह प्रकृति प्रेम छिपा नहीं रह सका है। उन्हें इस बात पर खेद है कि हिन्दी की कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों का वह सूक्ष्म वर्णन नहीं मिलता जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में पाया जाता है। वे काव्य में प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन देखना चाहते हैं। प्रकृति के नाना रूपों को वे रसात्मक-बोध के के योग्य समझते हैं। उनकी धारणा के अनुसार अनेक प्रकार के प्राकृतिक

दृश्यों के वर्णनकाल में हम एक मधुर भावना की अनुभूति करते हैं और यह काव्य में प्रसिद्ध रसात्मक अनुभूति से किसी भी रूप में कम नहीं है। शुक्लजी को अपने इस प्रकृति प्रेम पर बड़ा गर्व है। मृत्यु के कुछ ही दिन पूर्व मिर्जापुर के कवि-सम्मेलन में उनका यह गर्व इन शब्दों में साकार हो गया था—"मैं मिर्जापुर की एक-एक झाड़ी एक-एक टीले से परिचित हूँ। उसके टीलों पर चढ़ा हूँ। बचपन मेरा इन्हीं झाड़ियों की छाया में पला है। मैं इसे कैसे भूल सकता हूँ। लोगों की अन्तिम कामना रहती है कि वे काशी में मोक्ष लाभ करें, किन्तु मेरी अन्तिम कामना यही है कि अन्तिम समय मेरे सामने मिर्जापुर का वही प्रकृति का दिव्य रूप हो जो मेरे मन में भीतर-बाहर बसा हुआ है।"

उक्त विवेचन के माध्यम से हमने शुक्लजी के निजी व्यक्तित्व के चित्र की रेखाओं को अधिक स्पष्ट करने का उपक्रम किया है। उनका यह निजी व्यक्तित्व हमारे लिए अत्यन्त उपादेय है। इसी के आधार पर हम उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के मर्म को हृदयंगम करने में समर्थ हो सकेंगे। शुक्लजी की गम्भीरता अध्ययनशीलता तथा अन्तर्दृष्टि ने साहित्यिक क्षेत्र में उन्हें वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की है। उनकी व्याख्यात्मक प्रवृत्ति इन्हीं गुणों का रूपान्तर है। उनकी कृतियों में वर्गीकरण की प्रवृत्ति का तुलनात्मक दृष्टिकोण का व्यवस्था तथा अन्विति का समावेश इसी मूल प्रवृत्ति के कारण से हुआ है। उनकी सामाजिकता मर्यादाशीलता तथा सात्विकता ने उन्हें नीतिवादी एवं मूल्यवादी बनने की प्रेरणा दी है। उनके बौद्धिक प्रयासों के चिन्तन प्रधान लेखों के नीरस पक्ष को सरस सुरम्य एवं चित्ताकर्षक बनाने में उनकी विषम जीवन-परिस्थितियों में दबी पड़ी हास्य-व्यंग्य वृत्ति ने उल्लेखनीय सहायता की है। यदि उनकी कृतियों में भारतीय जीवन की भारतीय सिद्धान्तों की भारतीय एवं शास्त्रीय भक्ति की भारतीय काव्य परम्पराओं की प्रशंसा मिलती है तो उसका श्रेय उनकी आत्म-सम्मान की वृत्ति को दिया जा सकता है। उनका प्रकृति प्रेम भी अन्य है जिसने उन्हें सच्चा देश भक्त तथा भारतीय परम्पराओं का अनुरागी बना दिया है। पाश्चात्य

साहित्य के नवीन-प्राचीन मिश्र तथा काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों की चकाचौंध में यदि उनकी दृष्टि मन्द एवं पथभ्रष्ट नहीं हुई है यदि इस नवीनता के भीषण प्रवाह में भी वे अडिग रहे हैं तो केवल इसी भारतीयता के साथ युक्त शक्ति के कारण। भारत की अपनी प्राचीन संस्कृति सत्य को ग्रहण करने और असत्य के परित्याग का अमर सन्देश देती है। उनकी भारतीयता इस सन्देश को क्रियात्मक रूप देने में उन्हें सदा प्रवृत्त करती रही है। सत्य सर्वदा तथा सर्वत्र ग्राह्य होता है यह सूत्र वाक्य शुक्लजी के साहित्यिक चिन्तन का आधार बन गया है। यदि वे काव्य समीक्षा में समन्वयवादी हैं तो इसी सत्य तत्परता के कारण। निस्सन्देह उन्हें पुरातन-साहित्य-सरोवर प्रिय है परन्तु उसमें व्याप्त मलिनता कदापि भी ग्राह्य नहीं है। यदि इस प्राचीन-साहित्य-सरोवर में नवीन जल-संचार से कहीं भी मलिनता दूर की जा सकती है तो उन्हें इस नूतन धारा के संमीकरण में तनिक भी संकोच नहीं है। वे इस सरोवर में से भ्रान्त धारणाओं मान्यताओं के झाड़-झंखाड़ को उखाड़ फेंकने में भी हानि की आशंका नहीं करते हैं। उनकी भारतीयता इस स्थिति में भी अक्षुण्ण रहती है। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने पाश्चात्य नवीन काव्य सिद्धान्तों के ग्राह्य एवं सारपूर्ण तथ्यों को ग्रहण करके अपनी साहित्यिक उदारता एवं वैज्ञानिक निष्पक्षता का परिचय दिया है। अपने इसी व्यक्तित्व के कारण शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य में अपना स्थान एक महान गद्य-लेखक के रूप में निबन्धकार के रूप में समालोचक के रूप में तथा काव्य मीमांसक आचार्य के रूप में बना लिया है। हम उनके इसी व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि को लेकर उनके सामाजिक मन्तव्यों साहित्यिक मान्यताओं आलोचना पद्धतियों निबन्धों तथा अन्यान्य साहित्यिक कृतियों का विश्लेषण करने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार हम हिन्दी गद्य साहित्य के विकास में भी रामचन्द्र शुक्ल की देन का मूल्यांकन करने में सक्षम हो जायेंगे।

शुक्ल जी के दार्शनिक मन्तव्य

शुक्लजी की कृतियों की साहित्यिक समीक्षा के लिए उनके दार्शनिक मन्तव्यों का पर्यालोचन परमावश्यक है। उनकी कृतियों में स्थान-स्थान पर प्रासंगिक रूप से ये मन्तव्य बिखरे मिलते हैं। स्वतन्त्र रूप से 'दर्शन शास्त्र' के विषय को उन्होंने नहीं लिया है। उनका प्रधानतम उद्देश्य तो साहित्यिक समीक्षा ही है, फिर भी उनके मन्तव्यों का निर्धारण किया जा सकता है।

दार्शनिकता का मूल—दर्शन विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं, फिर भी इन सब के मूल में प्रकृति से मानव का सम्पर्क ही है। मानव का जन्म प्रकृति की गोद में होता है और वह उसके द्वारा पालित पोषित होकर वृद्धि प्राप्त करता है। प्रकृति के इस सहज सम्पर्क से मानव मन में दो रूपों में प्रतिक्रियाएं उत्पन्न होती हैं। एक रूप में वह दर्शनशास्त्र का विषय बन जाती है क्योंकि इसका आधार बुद्धि होती है। इस रूप में आश्चर्यमयी प्रकृति मानव के ज्ञान केन्द्र को आन्दोलित करती है। वह यह सोचने लगता है कि इस नानाविध सृष्टि का निर्माता या नियन्ता कौन है? उसका स्वरूप कैसा है? उसका अधिवास कहाँ है? मानव की इस सृष्टि में क्या स्थिति है? आत्म और अनात्म में क्या अन्तर है? इस प्रकार अनेक प्रश्न उसे गम्भीर बौद्धिक चिन्तन में तात्त्विक विश्लेषण में—प्रवृत्त कर देते हैं। मानव की इसी ज्ञानमूलक प्रवृत्ति का ही एक रूप विज्ञान कहलाता है। जिस समय यह प्रवृत्ति आत्म-अनात्म में कोई मौलिक अन्तर न मानकर उसके गोचर रूप का विश्लेषण करने में निरत रहती है। तब यह विज्ञान के स्वरूप का विधान करती है। इसके विपरीत जब यह जीव और अजीव का भेद सिद्धान्ततः स्वीकार करके इनके पारस्परिक सम्बन्ध

का अनुसन्धान करने के लिए बौद्ध रूप के विश्लेषण में प्रवृत्त करती है तब मानव दर्शनशास्त्र की रचना करने लगता है। फलतः प्रकृति का भौतिक दर्शन विज्ञान का विषय है और आध्यात्मिक दर्शन दर्शनशास्त्र का विषय माना जा सकता है। दोनों के मूल में निश्चित रूप से प्रकृति विद्यमान रहती है। इसी प्रकार साहित्य के मूल में भी प्रकृति का अस्तित्व निर्विवाद है जब हम प्रकृति का वर्णन तात्त्विक रूप से नहीं करते अपितु हृदय की अनुभूति के अनुरूप करने लगते हैं तब हम साहित्यिक सृष्टि करने लगते हैं। यह स्पष्ट है कि प्रकृति मानव की बौद्धिक व मानसिक प्रतिक्रियाओं के मूल में निर्विवाद रूप से अन्तर्निहित रहती है।

शुक्ल जी की दार्शनिकता का रहस्य व स्वरूप—शुक्ल जी के प्रकृति प्रेम ने उनके अन्दर दार्शनिक प्रतिभा को विकसित किया है। वे मूलतः साहित्यिक हैं। वे मानव जीवन में हृदयवृत्ति के अस्तित्व से प्रभावित हैं। दर्शन और विज्ञान दोनों ही उनकी साहित्यिक भावधारा के दृढ़ किनारे हैं। इन्हीं दोनों के नियन्त्रण में उनका साहित्यिक चिन्तन गतिशील होता है। यही कारण है कि उन्होंने प्रकृति का विभिन्न रूपों में दर्शन किया है। जब वे जर्मन वैज्ञानिक हैकल की Riddle of the Universe का अनुवाद 'विश्व प्रपंच' नामक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करते हैं तथा उसमें वर्णित आधुनिक विज्ञान व दर्शन सम्बन्धी विषयों को स्पष्ट करने के लिए अपना प्राक्कथन हमारे सम्मुख रखते हैं तब हम उन पर प्रकृति के विज्ञान सम्मत स्वरूप की छाया पाते हैं और यह अनुभव करने लगते हैं कि वे भौतिक-वादी हैं और अनात्मवादी आधिभौतिक सिद्धान्तों के समर्थक हैं। इसके साथ ही जब हम उन्हें यह स्वीकार करता देखते हैं कि आत्म और अनात्म के परस्पर सम्बन्ध का यथातथ्य विश्लेषण अभी तक विज्ञान नहीं कर सका है और वैज्ञानिक निरन्तर प्रयत्न करने के उपरान्त अभी तक यह जानने में असमर्थ रहे हैं कि जीव-तत्त्व का उपादान कारण क्या है फलतः वे अपनी प्रयोगशालाओं में जीव-तत्त्व नहीं बना सके हैं तब हम वे जीव-तत्त्व की पृथक् सत्ता स्वीकार करते परिलक्षित होते हैं। उन्होंने चेतन प्रकृति का

जीव-तत्त्व का—भी वर्णन किया है। उनके मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध इसी दर्शन के उदाहरण कहे जा सकते हैं। इन निबन्धों में हम उन्हें प्रकृति का आध्यात्मिक वर्णन करते पाते हैं। इनको पढ़ते समय हमें यह सन्देह नहीं होता कि शुक्ल जी आत्म-तत्त्व को स्वीकार नहीं करते हैं। आज उनके सम्बन्ध में कुछ आलोचकों की धारणा बनती जा रही है कि वे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के समर्थक हैं। इन आलोचकों की धारणा का आधार उनका अनुवाद-ग्रन्थ ही है। अनुवादक के तटस्थ रूप पर ध्यान न देने से ही यह धारणा निश्चित रूप प्राप्त कर सकती है। केवल अनुवाद करने के कारण से ही हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि अनुवादक तत्प्रतिपादित अनूदित-ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय से सहमत है। इस अनूदित-ग्रन्थ की भूमिका मात्र के आधार पर हम कोई निश्चित मत स्थापित नहीं कर सकते हैं। निस्सन्देह 'विश्व प्रपंच' की भूमिका में से कई ऐसे उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे शुक्लजी का भूतवाद-अनात्मवाद-प्रामाणित होता है परन्तु यह उनकी प्रतिपाद्य विषय के साथ तल्लीनता मात्र है। वे अनुवाद करते समय भी अपने विषय को इतनी विशदता तथा पूर्ण अधिकार के साथ प्रस्तुत करते हैं कि वे वर्णन उनकी अपनी धारणा से प्रसूत प्रतीत होने लगती। हाँ हम इतना अवश्य मान सकते हैं कि इस अनात्मवाद ने आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने उनकी चेतना में भारतीय परम्पराओं तथा भारतीय दर्शन एवं साहित्य द्वारा संस्थापित आस्थाओं को बड़े तीव्र आघात से झकझोरा है। उनकी वंश-परम्परागत धारणा अपने चिर-स्थान छोड़नी अवश्य है परन्तु आगे बढ़कर किसी अन्य स्थान पर वह दृढ़ता से टिक नहीं सकी है। यही कारण है कि उनके स्वतन्त्र लेखों में साहित्यिक समीक्षाओं में अनात्मवाद की छाया दृष्टिगोचर नहीं होती है। 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' तथा 'काव्य में रहस्यवाद' आदि निबन्ध उक्त बात का पूर्ण समर्थन करते प्रतीत होते हैं।

शुक्ल जी के अन्यान्य निबन्धों भक्ति विषयक मान्यताओं की सर्वथा उपेक्षा करके केवल 'विश्वप्रपंच' नामक अनुवादग्रन्थ की भूमिका के आधार

पर ही कोई निर्णय करना शुक्ल जी के प्रति अन्याय करना है। निस्सन्देह इस वैज्ञानिक युग में मानव बुद्धि को चकित करने वाले नूतन वैज्ञानिक आविष्कारों के काल में रहने वाला कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति किसी अलौकिक व्याख्या को स्वीकार करने का दुस्साहस नहीं कर सकता है। शुक्ल जी भी इसके अपवाद नहीं हैं। अध्यात्मवादी आस्तिकों के अन्ध विश्वास उन्हें प्रिय नहीं हो सकते हैं। हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि शुक्ल जी उसी बात को स्वीकार करना चाहते हैं जिसका आधार ज्ञान हो। तात्त्विक दर्शन के बिना विश्वास मात्र पर अवलम्बित प्रकृति जीव तथा ब्रह्म का कोई स्वरूप न अथवा उनकी वैज्ञानिक प्रतिभा को ग्राह्य नहीं हो सकता है।

भक्ति के विकास पर अपनी धारणाओं को प्रस्तुत करते हुए शुक्ल जी ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। उनका यह एक सिद्धान्त वाक्य है कि ज्ञान प्रसार के भीतर ही भक्ति होती है। वे कहते हैं—"हमारे यहाँ भक्तिमार्गियों की ओर से ज्ञान लोक की ऐसी अवहेलना नहीं हुई भक्ति ने ज्ञान का काम अपने ऊपर नहीं लिया। गीता का उपदेश तो यही रहा कि जानते चलो भक्ति करते चलो और कर्म करते चलो। ज्ञान प्रसार के भीतर ही भक्ति होती है। जहाँ तक हम ईश्वर को जान पाते हैं वहीं तक उसकी भक्ति कर सकते हैं। उपनिषदों ने ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का ज्ञान कराकर तब उपासना का मार्ग खोला है।" इसी प्रसंग में आगे चलकर वे तत्त्व चिन्तन की अनिवार्यता प्रमाण करते हुए लिखते हैं—"भक्ति मार्ग अपने विशुद्ध रूप में धर्मभावना का भावात्मक या रसात्मक विकास है। यह विकास उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरान्त ही होता है। स्वरूप की यह प्रतिष्ठा तत्त्व चिन्तन या ज्ञान की प्रकृत पद्धति के द्वारा ही हो सकती है और सर्वत्र हुई है। परोक्ष के सम्बन्ध में ईश्वर के सम्बन्ध में मूल नित्य सत्ता के सम्बन्ध में जो बातें कही जाएँगी वे वास्तव में शुद्ध बुद्धि की क्रिया द्वारा ही प्रस्तुत मानी जा सकती हैं। रागात्मिका वृत्ति द्वारा भावोन्माद द्वारा ऐसी बातें तो दूर रहें साधारण बातें भी नहीं मानी जा

सकती।"

युग की वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने तत्वचिन्तन को महत्व प्रदान कर दिया है। गुप्तजी ने उस परोक्ष सत्ता के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करने का तो साहस नहीं किया। हाँ उसके प्रति प्रचलित धारणाओं का शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण अवश्य किया है। इन धारणाओं में जितना अंश उन्हें बुद्धि प्रक्रिया के अनुकूल प्रतीत हुआ है अथवा आधुनिकतम विज्ञान तत्व के अनुसन्धानों की सीमा से परे दृष्टिगोचर हुआ है उसके प्रति उनकी आस्था का अभाव प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। ईश्वर ब्रह्म या परमार्थ तत्त्व के सम्बन्ध में जितनी बातें ज्ञान-प्रक्रिया के साथ सीधा तथा स्वाभाविक सम्बन्ध रखने वाली हैं उनके प्रति गुप्तजी अनास्था प्रकट नहीं करते इसके विपरीत जो केवल भावोन्माद है, हृदयोद्गार है उस पर विश्वास प्रकट करना उनके लिए कठिन था। अनेक रूपात्मक जगत् का जितना अंश व्यक्त है जितना अंश विज्ञान द्वारा बोधगम्य है उतने अंश के प्रति किसी प्रमाण या तर्क की अपेक्षा नहीं है, परन्तु जो अव्यक्त है परोक्ष है, जिसके प्रति विज्ञान भी हमारी कुछ सहायता नहीं कर पाया है उसको स्वीकार करने के लिए गुप्तजी ज्ञान तर्क व अनुमान का आश्रय लेना अनिवार्य समझते हैं। यही कारण है कि 'विश्वदर्पण' की भूमिका को छोड़कर अन्यत्र स्थलों पर वे ज्ञान सम्मत एवं तर्कानुमोदित ब्रह्म के अस्तित्व व स्वरूप का विरोध नहीं कर सके हैं। गुप्तजी ने मानव ज्ञान को अज्ञान सापेक्ष माना है। अतएव वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस नाम रूपात्मक जगत के बीच परमार्थ तत्त्व का शुद्ध स्वरूप पूरा-पूरा निरूपित नहीं हो सकता है। उनकी यह धारणा है कि मानव ज्ञान के इस सापेक्ष स्वरूप को देखकर मानवता के बड़े-बड़े विज्ञान-विशारद इतनी दूर पहुँचकर ठिठक गए हैं। आगे का मार्ग उन्हें दिखाई ही नहीं पड़ता। फलतः हम यह कह सकते हैं कि गुप्तजी ईश्वर और जीव का सर्वथा निषेध नहीं करना चाहते। इस विषय में वे विज्ञान की असफलता को भी अंगीकार करते हैं। इस अध्यात्म क्षेत्र में मानव-बुद्धि के माध्यम से ही निवारण हो सकता है। उनकी धारणा

यह है कि जगत् के इन बदलते हुए नाना रूपों की तह में कोई एक नित्य अपरिच्छिन्न और अपरिणामशील सत्ता है मनुष्य की सोचने वाली बुद्धि ज्ञान-विकास की उन्नत दशा में अवश्य इस बात तक पहुँचती है। वे भक्ति के विकास पर विवेचना करते हुए यह स्वीकार करते हैं—"सान्त से असन्तोष भी सभ्य दशा को पहुँची हुई मनुष्य जाति के लिए स्वाभाविक है। जब उसकी बुद्धि इस विराट् विश्व की ओर देखती है तब उसकी अनन्तता और प्रवाह नित्यता का अनुमान बँधता है और वह सान्त रूपों के चिन्तन से सन्तुष्ट न होकर अनन्त और नित्य समष्टि के चिन्तन की ओर बढ़ती है।" यह स्पष्ट है कि शुक्लजी इस परोक्ष सत्ता के अस्तित्व में अनुमान को प्रमाण मान कर चले हैं।

ईश्वर—ईश्वर के सम्बन्ध में स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष चर्चा शुक्लजी ने कहीं नहीं की है। यही कारण है कि हम शुक्लजी के सम्बन्ध में कोई सर्व सम्मत निश्चित मत की स्थापना नहीं कर सकते हैं। भक्ति तथा काव्य सम्बन्धी विवेचनों में यद्यपि उन्होंने विषय का प्रतिपादन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया है तथापि बीच-बीच में उनका हृदय उत्कण्ठा श्रद्धायुक्त प्रतीत होता है। हम ऐसे ही स्थलों को अपना आधार बनाकर किसी मत की स्थापना करने के लिए विवश हैं। उनके हृदय की अभिव्यक्ति करने वाले विभिन्न स्थलों का गम्भीर विश्लेषण यह संकेतित करता है कि शुक्लजी आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धानों से अत्यन्त प्रभावित हैं। उनकी प्रवृत्ति नवीन वैज्ञानिक अनुसन्धानों के निष्कर्षों को स्वीकार करने की ओर ही है। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि उनकी चेतना से आस्तिकता का अंश सर्वथा उच्छिन्न हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी भारतीय अध्यात्म भावनाओं से प्रभावित चेतना ईश्वर के अस्तित्व का सर्वथा प्रत्याख्यान करने को उद्यत न थी परन्तु उनके वैज्ञानिक तर्क विश्लेषण को भी स्वीकार नहीं करना चाहती थी। यही कारण है कि भक्ति विषयक अनेक बातों की चर्चा करते समय उन्होंने ईश्वर सम्बन्धी अनेक मिथ्या कल्पनाओं के प्रति अपनी अनास्था प्रकट कर दी है। इसके साथ ही ईश्वर की

सत्ता के सम्बन्ध में चलाविकास से मानव-हृदय जो स्वाभाविक अनुभूति करता चला आया है उसका सहसा प्रत्याख्यान भी उनके लिए सम्भव नहीं था। इसीलिए भारतीय भक्ति क्षेत्र में ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा करते समय उनका हृदय रमता प्रतीत होता है। भारतीय भक्ति-पद्धति का जिस रूप में विश्लेषण व समर्थन उन्होंने किया है उसे देखते हुए हम उनको आस्तिक एवं अध्यात्मवादी स्वीकार करना पड़ता है। अथवा नास्तिक अनात्मवादी या भौतिकवादी उस रूप में ब्रह्म तथा उसकी भक्ति की विवेचना नहीं कर सकता है।

'विश्व प्रपंच' की भूमिका में शुक्लजी ने लिखा है— "इसमें सन्देह नहीं कि विकास-सिद्धान्त के नियमों की परिमार्जना के लिए वैज्ञानिक निरन्तर प्रयत्न करते जा रहे हैं जिससे मार्ग की कठिनाइयाँ बहुत-कुछ दूर होती जा रही हैं। निर्जीव से सजीव द्रव्य की उत्पत्ति को ही लीजिए। अब लोग यह देखने लगे हैं कि रासायनिकों को सजीव द्रव्य की योजना में अब तक जो असफलता होती आई है वह इस कारण कि सजीव द्रव्य के मूल या आदिम रूप की उनकी ठीक धारणा ही नहीं रही है।" उद्धरण के अन्तिम वाक्य में विज्ञान की असफलता का संकेत है। क्योंकि भौतिक विज्ञान अभी तक चेतना का पूरा रहस्य हृदयंगम नहीं कर सका है अतएव शुक्लजी इसके सम्बन्ध में प्रचलित मतों के विश्लेषण में प्रवृत्त हुए हैं। इस क्षेत्र में विज्ञान की अपेक्षा उन्होंने सहज तर्क का आश्रय लिया है और वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि मनुष्य की बुद्धि और हृदय ने मिलकर ईश्वर की प्रतिष्ठा की है। 'काव्य में रहस्यवाद' इस लेख की निम्नलिखित पंक्तियाँ उक्त कथन का समर्थन करती हैं—

"यदि यह कहा जाय कि ईश्वर को किसी ने नहीं देखा है पर ईश्वर भक्ति बराबर होती आई है तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वर को ज्ञेय बना कर ही उसकी उपासना और भक्ति का आरम्भ हुआ है। ईश्वर को प्रभु दयालु पिता या स्वामी के रूप में अन्तःकरण के सामने रखकर ही प्रेम या भक्ति का चरम आलम्बन मनुष्य जाति ने खड़ा किया है।

इस उद्धरण से यही संकेत मिलता है कि वे ईश्वर प्रतिष्ठा में उसके स्वरूप व सत्ता के प्रतिपादन में मनुष्य की सहज बुद्धि तथा अन्तःकरण की सहजानुभूति के महत्त्वपूर्ण योग को स्वीकार करते हैं। यही बात 'श्रद्धा-भक्ति' के प्रसंग में कही गई है—"ज्ञानक्षेत्र में ईश्वर की खोज में हम उतने ही घेरे में करते जितने में इन्द्रियों की सहायता लेकर बुद्धि पहुँचती है और कर्म क्षेत्र में उसकी भावना हम उसे उतने ही भावों से परिमित करके करते जितने की हमारे मन में जगह है। वे यह मानते हैं कि मनुष्य अपने-आप को उस सर्वात्मा का सर्वोत्तम अंश समझता है अतः मानव-समाज की स्थिति रक्षा के लिए उसे जिन गुणों की आवश्यकता प्रतीत होती है उन सबकी प्रतिष्ठा वह उस सर्वात्मा में कर देना चाहता है। अपनी आत्मा में दया दाक्षिण्य प्रेम आदि स्थिति रक्षा विधायक गुणों का अस्तित्व देखकर वह उस सर्वात्मा में भी इन उदात्त गुणों की चरम सीमा स्वीकार करने के लिए विवश हो जाता है और तब वह परम दयालु परम प्रेममय मंगलस्वरूप समझने लगता है। वे कहते हैं—"अपने व्यवहार पथ में साध्य-प्राप्ति के निमित्त मनुष्य के लिए ईश्वर की स्वानुरूप भावना ही संभव है। स्वानुभूति ही द्वारा वह उस परमानुभूति की धारणा कर सकता है।

ईश्वर के अस्तित्व में प्रत्यक्ष प्रमाण के न होने के कारण भले ही शुक्लजी की तर्कणा परम सत्ता को स्वीकार करने में बाधक बन जाए परन्तु उनकी हृदय वृत्ति इस तर्कणा का पूर्णतः साथ देती प्रतीत नहीं होती उनकी हृदय वृत्ति ईश्वर की आवश्यकता को निस्संकोच स्वीकार करने को उद्यत है। भक्ति के स्वरूप पर विचार करते हुए उन्होंने स्थान-स्थान पर यह संकेत दिया है कि ईश्वर की सत्ता-स्वीकृति से मानव-मन में उदात्त नैतिक गुणों की प्रतिष्ठा की जा सकती है। उनका हृदय यह स्वीकार करता प्रतीत होता है कि ईश्वर में आस्था रखने से मानव-जन्य भाव भूमि पर प्रतिष्ठित हो सकता है। 'तुलसी का भक्ति मार्ग' शीर्षक लेख का निम्नलिखित अंश इसी बात का समर्थन करता है—

'प्रेम के महत्त्व के सामने होते ही भक्त के हृदय में लघुत्व का अनुभव

होने लगता है। उसे जिस प्रकार प्रभु का महत्त्व वर्णन करने में आनन्द आता है, उसी प्रकार अपना लघुत्व कथन करने में भी। प्रभु की अनन्त शक्ति के प्रकाश में उसकी असामर्थ्य का उसकी दीन-दशा का बहुत साफ चित्र दिखाई पड़ता है और वह अपने जैसा दीन-हीन संसार में किसी को नहीं देखता। प्रभु के अनन्तशील और पवित्रता के सामने उसे अपने में दोष-ही दोष और पाप-ही-पाप दिखाई पड़ने लगते हैं। इस अवस्था को प्राप्त भक्त अपने दोषों पापों और त्रुटियों को अत्यन्त अधिक परिमाण में देखता है और उनको भी खोल कर वर्णन करने में बहुत-कुछ सन्तोष लाभ करता है। दम्भ अभिमान छल कपट आदि में से कोई उस समय बाधक नहीं हो सकता। इस प्रकार अपने पापों की पूरी सूचना देने से जी का बोझ ही नहीं सिर का बोझ भी कुछ हलका हो जाता है। भक्त के सुधार का भार उसी पर न रहकर बँट-सा जाता है।

अनेक उद्धरण इस बात का स्पष्ट संकेत करते हैं कि ईश्वर की सत्ता यदि वैज्ञानिक अन्वेषणों के माध्यम से सिद्ध नहीं हो सकती और यदि मानव की तर्कणा शक्ति उसके अस्तित्व को स्वीकार करने में बाधक भी बनती है तो भी मानव की हृदय वृत्ति उसे स्वीकार करके अनन्त सुख का उपार्जन कर लेती है। शुक्लजी की धारणा है कि यदि मानव अपने हृदय में भगवान् के लोकरंजनकारी रूप की प्रतिष्ठा कर ले तो उसके आलम्बन से मानव कल्याण-मार्ग की ओर आप-से-आप आकर्षित हो सकता है। वे लिखते हैं—

"इसी हृदय-पद्धति द्वारा मनुष्य में शील और सदाचार का स्थायी संस्कार जम सकता है। दूसरी कोई पद्धति है ही नहीं। अनन्त शक्ति। अनन्त सौन्दर्य के बीच में अनन्तशील की आभा फटती देख जिसका। मुग्ध न हुआ जो भगवान् की लोक रंजक मूर्ति के मधुर ध्यान में कभी ली न हुआ उसकी प्रकृति की कटुता बिलकुल दूर नहीं हो सकती।"

आस्तिक हृदय से ही ये पंक्तियाँ निकल सकती हैं। इसलिए हम निस्संकोच कह सकते हैं कि शुक्लजी हृदय से आस्तिक हैं। आधुनिक

विज्ञान ने उनके मस्तिष्क को अवश्य प्रभावित किया है, हृदय को नहीं। उनके हृदय ने ही उन्हें भगवत्स्वरूप निर्धारण में प्रवृत्त किया है। इस कार्य में उनके विज्ञान से अभिभूत मस्तिष्क ने पर्याप्त सहयोग दिया है। उनकी वैज्ञानिक चेतना ने प्रचलित भगवान् के स्वरूप के विश्लेषण के उपरान्त एक ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की है जिसे उनकी बुद्धि और हृदय वृत्ति स्वीकार करती परिलक्षित होती है। यह कहा जा सकता है कि उनकी वैज्ञानिक चेतना और भावुक हृदय वृत्ति में एक समझौता हो गया है। इस समझौते के परिणामस्वरूप वे ब्रह्म के अवैज्ञानिक स्वरूप का तो प्रत्याख्यान कर देते हैं, परन्तु वे प्रत्यक्ष प्रकृति की विशाल वेदी पर भगवान् के व्यक्त और गोचर रूप की प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं अर्थात् वे सारे बाह्य जगत् को भगवान् का व्यक्त स्वरूप स्वीकार करते परिलक्षित होते हैं। 'काव्य में रहस्यवाद' की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस बात का समर्थन करती हैं—

'इस प्रकार जब प्रकृति की विशाल वेदी पर व्यक्त रूप में उसके भीतर (Immanent) या बाहर (Transcendent) नहीं—भगवान् के व्यक्त और गोचर रूप की प्रतिष्ठा हो गई तब काव्यमयी उपासना या भक्ति की धारा फूटी जिसने मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को उसके किसी एक खण्ड या कोने को ही नहीं—रसमय कर दिया। इसी प्रसंग में आगे चलकर वे लिखते हैं—"सारा बाह्य जगत् भगवान् का व्यक्त स्वरूप है। समष्टि रूप में वह नित्य है, अतः 'सत्' है, अत्यन्त रंजनकारी है अतः 'आनन्द' है। अतः इस 'सदानन्द' स्वरूप का वह अव्यक्त अंश जो मनुष्य की रक्षा में (बना रहने देने अर्थात् सत् को चरितार्थ करने में) और रंजन में (सुख और मंगल का विधान करने में) अपार शक्ति के साथ प्रवृत्त दिखाई पड़ा वही उपासना के लिए, हृदय लगाने के लिए, लिया गया।"

ब्रह्म का वह स्वरूप जो मानव हृदय की भावुकता से विषय नहीं बन सकता है वह शुक्लजी की चेतना को ग्राह्य नहीं है। उनकी धारणा यह है कि ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता मानव हृदय के संपर्क क्षेत्र में नहीं है। इसी धारणा के ही कारण उन्होंने निर्गुण उपासना के प्रति अपनी अरुचि प्रकट

की है। ब्रह्म के सम्बन्ध में निर्गुण असीम आदि शब्दों के प्रयोग का तात्पर्य विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं कि—

"अव्यक्त निर्गुण असीम इत्यादि निषेधवाचक शब्दों का अभिप्राय केवल इतना ही है कि जहाँ तक ब्रह्म हमारी परिमित बुद्धि का व्यक्त है जिस सीमा तक हमारा ज्ञान पहुँच सकता है जिस गुण समूह तक हमारी अनुभूति जा सकती है उसके आगे भी वह अनन्त है उसके आगे उसका स्वरूप न जाने कैसा है उसके आगे उसके गुण न जाने क्या है। अतः व्यक्त और ससीम को ही लेकर भक्त ध्यान करने बैठता है पर उसमें यह भावना और जोड़ देता है कि वह यहीं तक नहीं है, इसके आगे भी न जाने क्या और कहाँ तक है।"

शुक्लजी इस व्यवहार क्षेत्र से परे ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व का प्रेम या भक्ति का विषय नहीं मानना चाहते। उसे वे केवल चिन्तन का विषय मान सकते हैं। उनकी हृदय वृत्ति तो ब्रह्म-दर्शन के लिए इसी व्यक्त नाम रूपात्मक एवं गोचर जगत् में ही ब्रह्म की लीला के दर्शन करना चाहती है। उनकी बुद्धि वृत्ति ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता को स्वीकार करने में कोई उपयोगिता नहीं समझती दूसरी ओर उनकी हृदय वृत्ति ब्रह्म के सत् चित् और आनन्दस्वरूप को ग्रहण करने के लिए उत्सुक है परन्तु व्यक्त जगत् के माध्यम से ही। उन्होंने श्री वल्लभाचार्य जी के दार्शनिक मन्तव्यों पर प्रकाश डालते हुए अपनी रुचि और अरुचि का परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप से संकेत कर दिया है। इनका गम्भीर अध्ययन करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे इसी गोचर दृश्य जगत् में ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप का दर्शन करना चाहते हैं। वे शुद्धाद्वैतवादी आचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का परोक्ष रूप से समर्थन भी करते हैं।

श्री वल्लभाचार्य जी का सिद्धान्त है कि अक्षर (ब्रह्म) अपनी आविर्भाव-तिरोभाव की अचिन्त्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और उसके परे भी रहता है। ब्रह्म का यह परिणाम रूप अर्थात् जगत् असत् या मिथ्या नहीं है, वह भी सत् है। ब्रह्म के विकार या परिणाम से नाम रूप

ब्रह्म से अनन्य है। उसी प्रकार जैसे मिट्टी से बने घड़े आदि भिन्न-भिन्न होने पर भी मिट्टी से अनन्य हैं, सोने के बने हुए कड़े कुण्डल इत्यादि गहने भिन्न भिन्न होने पर भी सोने से अनन्य हैं। कारण से बना हुआ कार्य उससे अनन्य होता है मिथ्या नहीं होता। इस आविर्भाव-तिरोभाव के सिद्धान्त का समर्थन शुक्लजी ने अपने 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' में किया है। वे लिखते हैं—

"सत्, चित् और आनन्द-ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्तिमार्ग 'आनन्द' स्वरूप को लेकर चले। विचार करने पर लोक में इस आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएँ पाई जाएँगी—साधनावस्था और सिद्धावस्था। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में ब्रह्म के 'आनन्द' स्वरूप का सतत आभास नहीं रहता, उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। इस जगत् में न तो सदा और सर्वत्र लहलहाता वसन्त-विकास रहता है, न सुख समृद्धि पूर्ण हास-विलास।

शुक्ल जी इस सारे विश्व व्यापार को ब्रह्म की लीला कहते हैं और यह मानते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् प्रवाह ब्रह्म के रक्षण पालन और रंजन से चल रहा है। उनकी यह धारणा है कि लोक के रक्षण और पालन में 'ब्रह्म' अपने सत्स्वरूप का प्रकाश करता है और रंजन द्वारा अपने 'आनन्द' स्वरूप का। इस आनन्दस्वरूप को सत्स्वरूप से भिन्न नहीं किया जा सकता है। ब्रह्म का यह स्वरूप उन्हें तुलसी की रामभक्ति में पूर्णतया चरितार्थ होता दृष्टिगोचर हुआ है अतएव सूर की कृष्णभक्ति की अपेक्षा तुलसी की रामभक्ति का स्वरूप उन्हें अधिक मान्य रहा है। कृष्ण भक्ति में केवल रंजक रूप को ही ग्रहण किया गया है। ब्रह्म के पालक रूप का प्रतिपादन शुक्ल जी बड़े उत्साह से करते हैं और उसे तात्त्विक मानते हैं। वे लिखते हैं—

"अब प्रश्न यह हो सकता है कि ईश्वर का पालक और रक्षक रूप ही क्यों लिया गया। क्या यह रूप केवल भक्ति के व्यवहार के लिए आरोप मात्र है? नहीं, यह तात्त्विक रूप है, आरोप मात्र नहीं है। यद्यपि भगवान्

की शक्ति लय और नाश भी करती है पर एक बात है। लय का परिणाम नाश कभी और कहीं होता है पर रक्षा के परिणाम पालन का प्रवाह अखण्ड और नित्य है। विश्व के भीतर असंख्य लय प्रलय होते रहते हैं— न जाने कितने लोक नष्ट होते रहते हैं—पर समष्टि रूप में विश्व या जगत् बराबर बना चलता है। इस पालक स्वरूप ही सत्स्वरूप है नाशक रूप असत्, अनित्य और क्षणिक है।

ब्रह्म के इस पालक रूप के साथ-ही-साथ शुक्ल जी उसके रंजक रूप का भी समर्थन करते हैं। ब्रह्म को इस आनन्दकला के दर्शन भी इसी व्यक्त जगत् में होते हैं। जगत् की सुख-समृद्धि शान्ति-व्यवस्था हास-विलास आमोद-प्रमोद सौन्दर्य-माधुर्य मुक्ति-प्रसूति सुषमा-कालिमा में ब्रह्म की आनन्दकला के साक्षात् दर्शन सिद्ध हो जाते हैं, परन्तु दुःख-पीड़ा कलह क्लेश दलन-मर्दन युद्ध-चीत्कार रुदन क्रन्दन ध्वंस-विनाश में आनन्दकला का तिरोभाव रहता है। लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनन्दकला शक्तिमय भीषण एवं प्रचण्ड रूप धारण करती है और धीरे-धीरे अमंगल-विनाश की गहन घटा का आवरण चीरती हुई वह एक मध्य रूप में प्रकट होने लगती है। अतएव उसकी भीषणता कटुता तथा उग्रता में भी सौम्यता मधुरता तथा कोमलता रहती है। कहने का अभिप्राय यह है कि शुक्ल जी की ईश्वर भावना इस व्यक्त एवं गोचर जगत् की उपेक्षा नहीं कर सकती। यह जगत ब्रह्म से भिन्न नहीं। ईश्वरोपासना अथवा भक्ति की दृष्टि से यह विश्व सर्वथा ग्राह्य है त्याज्य एवं उपेक्षणीय नहीं है। उनके भक्ति सम्बन्धी लेखों में ऐसा समझता है कि व प्रकृति के इस व्यापक प्रसार में ही भगवान् के दर्शन करने के लिए प्रेरणा देते हैं। विश्व में जिस व्यक्ति या वस्तु से लोक का कल्याण और रंजन होता है यह समझना चाहिए कि उस व्यक्ति या वस्तु के रूप में भगवान् ही हमारा कल्याण कर रहे हैं और रंजन कर रहे हैं। यही धारणा शुक्ल जी को अव तारवाद के समर्थन में प्रेरित करती परिलक्षित होती है। उनकी ये पंक्तियाँ प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं— 'मनुष्य का इस जगत् के साथ

जो अनेक रूपात्मक सम्बन्ध है उस सम्बन्ध को भगवत्सम्बन्ध के रूप में प्रकाशित करने के लिए ये अवतार पृथ्वी पर आए हैं। माता-पिता जिस प्रेम से बालक की रक्षा और पालन करते हैं पति-पत्नी जिस प्रेम से एक दूसरे को अनुरंजित करते हैं भाई भाई जिस प्रेम की प्रेरणा से एक-दूसरे को सहारा देते हैं जिस करुणा से प्राणियों की रक्षा की जाती है, जिस क्रोध से जन समाज को पीड़ित करते हुए आततायियों और अत्याचारियों का दमन किया जाता है वह प्रेम वह करुणा वह क्रोध भगवान् का प्रेम भगवान् की करुणा और भगवान् का क्रोध है।" इस वैज्ञानिक युग में युवक भी ईश्वर के किसी ऐसे स्वरूप को मानने को उद्यत नहीं है जो इस व्यक्त जगत् की अवहेलना करता हो अथवा मानव-हित के लिए अनुपयोगी हो। अवतार के मूल में उन्हें व्यक्त जगत् का सम्बन्ध तथा मानव-हित का प्रतिपादन दिखाई दिया है अतएव वे इसका समर्थन कर रहे हैं। अवतारवाद यह सन्देश देता है कि भगवान दूर नहीं है हमारे जीवन में मिले हुए हैं। 'ईश्वर हमसे दूर है' 'निर्गुण है' 'वह बिना पैर के चल सकता है' 'बिना हाथ के मार सकता है' 'और' सहारा दे सकता है' इत्यादि पश्चिमी युवकों की ईश्वर भावना के अनुकूल नहीं है। अवतारवाद भगवान् के दर्शन इसी व्यक्त जगत् में कराने का आश्वासन देता है अतएव वे इसका समर्थन करते हैं और कहते हैं— 'जब भगवान् मनुष्य के पैरों से दीन दुखियों की पुकार पर दौड़कर आते दिखाई दें और उनका हाथ मनुष्य के हाथ के रूप में दुष्टों का दमन करता और पीड़ितों को सहारा देता दिखाई दे उनकी आँखें मनुष्य की आँख होकर आँसू गिराती दिखाई दें तभी मनुष्य के भावों की तृप्ति हो सकती है।

विज्ञान मानव बुद्धि पर अंकुश रख सकता है, परन्तु उसके हृदय को अपने नियन्त्रण में नहीं रख सकता है। युवक भी भले ही अपने बौद्धिक चिन्तन में ईश्वर सत्ता का स्वीकार न करना चाहें परन्तु उनकी हृदय वृत्ति उसका सर्वथा प्रत्याख्यान नहीं कर पाती है। इसी वृत्ति से ईश्वर सम्बन्धी धारणाओं में वे अपने बौद्धिक चिन्तन के अनुरूप ईश्वर के स्वरूप का समर्थन

की प्रेरणा दी है। पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट की ईश्वर भावना के समान शुक्ल जी भी व्यवहार पक्ष में ईश्वर-तत्त्व को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। वे काण्ट की इस धारणा के समीप प्रतीत होते हैं कि शुद्ध बुद्धि के द्वारा तो नाम रूपात्मक जगत् से परे वस्तु-तत्त्व तक हम नहीं पहुँच सकते पर व्यवहार बुद्धि द्वारा पहुँच जाते हैं। इच्छा या कर्मेच्छा पारमार्थिक वस्तु का आभास देती है अर्थात् मानव हृदय किसी पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति द्वारा आत्मसन्तोष प्राप्त करने का उपक्रम करता है। परमार्थ पक्ष में शुक्ल जी भी आधुनिक भौतिकवादी हेक्ल तथा विकासवादी डारविन की विचारधाराओं से अत्यन्त गम्भीरता से प्रभावित हैं अतएव अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष के सिद्धान्त ग्रन्थ Riddle of the universe (विश्व प्रपंच) की भूमिका में कहीं-कहीं उनके द्वारा ऐसी बातें कह दी गई हैं कि हम उन्हें शुद्ध अनात्मवादी भौतिकवादी समझने की भूल कर सकते हैं। उदाहरण के लिए ईश्वर के सम्बन्ध में उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ हम अंकित कर सकते हैं—

"ईश्वर साकार है या निराकार अभी दाढ़ी वाला है कि चार हाथ वाला अरबी बोलता है कि संस्कृत मूर्ति पूजने वालों से दोस्ती रखता है कि आसमान की ओर हाथ उठाने वालों से इन बातों पर विचार करने वाले अब केवल उपहास के पात्र होंगे।" इसी प्रकार सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है उनके सम्बन्ध में जो प्राचीन पौराणिक कथाएँ और कल्पनाएँ — छः दिन में सृष्टि-रचना की उत्पत्ति आदम-हौवा का जोड़ा चौरासी लाख योनि इत्यादि हैं, वे अब काम समझदार का काम नहीं दे सकते।

इस प्रकार की अन्यान्य ईश्वर विरोधी उक्तियों को देखकर सामान्यतः शुक्ल जी को भी अनात्मवादी नास्तिक कहा जा सकता है परन्तु उनके सारे साहित्य की साहित्यिक आलोचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन तथा गम्भीर विश्लेषण के द्वारा यह विषय समुचित एवं युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता है। इन उक्तियों से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वे विश्व

के ईश्वर-सम्बन्धी विभिन्न मतों सम्प्रदायों में प्रचलित अवैज्ञानिक एवं निर्मूल धर्मविश्वासों भ्रान्त धारणाओं को उपहासास्पद समझते हैं और विज्ञान-अविरोधी तर्कसम्मत ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं। विश्वप्रपंच की भूमिका में उनका यह कथन कि सब मतों और सम्प्रदायों में धर्म और ईश्वर की जो सामान्य भावना है उसी का सब धर्म निश्चित पक्ष के अन्तर्गत आ सकता है—हमारी बात का समर्थन करता है। भक्ति के स्वरूप व विकास के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए अथवा सूरदास तथा तुलसीदास की काव्य-सम्बन्धी विशेषताओं का विवेचन करते हुए उन्होंने अपनी इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

प्रकृति—शुक्लजी की भक्ति पद्धति की प्रशंसा करते हुए वे इस व्यक्त जगत् अथवा प्रकृति के महत्त्व को स्वीकार करते हैं—"अतः यदि परमात्मा को अव्यक्त को देखना है तो उन्हें व्यक्त जगत् के सम्बन्ध से देखना चाहिए। इस सम्बन्ध के बिना आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध व्यक्त ही नहीं हो सकता।" शुक्ल जी के दार्शनिक मन्तव्यों पर विचार करते समय आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को अभिव्यक्त करने वाली प्रकृति के प्रति उनकी धारणाओं और मान्यताओं से भी परिचय प्राप्त करना उपयोगी होगा।

शुक्ल जी ने इस प्रकृति को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता के रूप में कल्पित किया है और इसे ब्रह्म की प्रत्यक्ष विभूति भी कहा है। इसी आधार पर प्रकृति की प्रत्येक गति में उन्हें सौन्दर्य और मंगल के दर्शन होते हैं। इस प्रकार प्रकृति उनकी रागात्मिका वृत्ति के साथ सीधा सम्बन्ध रखती प्रतीत होती है। प्रकृति का प्रत्येक कुरूप-सुरूप कोमल-कठोर, भीषण-मधुर, सौम्य-प्रचण्ड पदार्थ उनके अनुराग का आकर्षण का पात्र है। साहित्यिक आलोचनाओं के प्रसंगों में प्रकृति के प्रति उनके मौलिक दर्शन का आभास नहीं मिलता है। 'विश्व प्रपंच' की भूमिका में प्रकृति का तात्विक विवेचन शुक्ल जी ने किया है। इस विवेचन का मूल आधार आधुनिक वैज्ञानिक अनुसन्धान ही है। इस सारे विवेचन पर विकासवाद के सिद्धान्तों की छाया

निर्विकार रूप में परिलक्षित होती है। उनकी अपनी खोज या मत-स्थापना का कोई प्रयास प्रमाणित नहीं होता अतः शुक्ल जी की प्रकृति सम्बन्धी दार्शनिक धारणा को स्पष्ट करने के लिए हम भारतीय दर्शनशास्त्र में वर्णित प्रकृति के स्वरूप का तथा विकासवाद और विज्ञान के क्षेत्र में स्वीकृत स्वरूप का संक्षिप्त परिचय करा कर उनकी प्रकृति सम्बन्धी निजी प्रवृत्ति तथा स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

भारतीय दर्शनशास्त्र में जड़ और चेतन का भेद स्वीकार किया गया है और प्रकृति को निर्जीव एवं अचेतन माना गया है। सांख्य दर्शनकार कपिल मुनि ने इस प्रकृति के प्रथम दो भेद प्रकृति और विकृति के नाम से किए हैं और फिर आठ प्रकृतियाँ और सोलह विकृतियाँ स्वीकार की हैं। जिसके द्वारा कोई नया तत्व उत्पन्न हो उसको प्रकृति कहा गया है और जिसके द्वारा कोई नया तत्व उत्पन्न न हो उसको विकृति नाम दिया गया है। विकृति स्वरूप से स्थूल, अव्यापक एवं व्यक्त होती है और प्रकृति सूक्ष्म व्यापक तथा अनुमानगम्य होती है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ये पाँच भूत और श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना तथा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय और वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ तथा गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रिय और मन ये सोलह विकृतियाँ हैं। ये अव्यापक, स्थूल एवं व्यक्त हैं। इनसे कोई नया द्रव्य नहीं बनता है। इसी प्रकार मूल प्रकृति, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की तन्मात्राएँ, अहंकार और महत्तत्व ये आठ प्रकृतियाँ हैं। मूल प्रकृति को छोड़कर शेष सात प्रकृति-विकृति दोनों हैं। शब्दादि की तन्मात्राओं से पाँच भूतों की सृष्टि होती है अतः ये प्रकृतियाँ भी परन्तु इनकी उत्पत्ति 'अहंकार' प्रकृति से होती है अतः ये विकृतियाँ भी हैं। इसी प्रकार अहंप्रकृति महत्तत्व से उत्पन्न होती है अतः यह विकृति भी है। इसी क्रम में महत्तत्व से भी व्यापक सूक्ष्म प्रकृति का अनुमान करके भारतीय सांख्य दर्शन पच्चीसवें चेतन तत्व पुरुष का प्रतिपादन करता है। सांख्य दर्शन में वर्णित चौबीस जड़ तत्व तीन गुणों वाले हैं। सत्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण परिणामी हैं अर्थात् अपने पहले धर्म को छोड़कर किसी दूसरे धर्म को ग्रहण करने

जाते हैं। यह परिणाम भी दो प्रकार का होता है—साम्य और विषम। तीन गुणों का साम्य परिणाम ही अनुमान गम्य अव्यक्त अर्थात् प्रधान मूल प्रकृति अथवा केवल प्रकृति है। भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुसार उस प्रधान मूल प्रकृति में चेतन तत्त्व से एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होकर इन तीन गुणों के परस्पर विषम परिणाम उत्पन्न कर देता है और यही प्रथम जड़ तत्त्व महत्तत्त्व है। इसी से अन्य जड़ तत्त्व सत्ता में आते हैं और यह व्यक्त अनेक रूपात्मक जगत् दृष्टिगोचर होने लगता है।

आधुनिक विज्ञान क्षेत्र का विकासवाद का सिद्धान्त इस चेतन परम तत्त्व की आवश्यकता नहीं समझता है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्त पदार्थों का आदि और मूल कारण 'ईथर' है। उसी की तरंगावली से विद्युत् प्रकाश शब्द और गर्मी पैदा होती है। उसी के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों को 'इलैक्ट्रोन' कहते हैं। इन एलैक्ट्रोनों के संघात से ही विद्युत् होती है और यही शक्ति (Energy) के रूप से स्थूल आकार में 'मैटर' (Matter) कहलाती है। 'मैटर' की विरल दशा को 'गैस' तरल दशा को लिक्विड और ठोस दशा को 'सालिड' कहते हैं। ईथर से उत्पन्न ये पदार्थ घनीभूत होकर और आकर्षणानुकर्षण के नियम से चक्राकार गति में हो जाते हैं। कुछ दिनों में यही चक्र सूर्य हो जाता है। सूर्य में गर्मी और गति के कारण चक्कर (ring) पड़ जाते हैं और पृथक् होकर दूसरे ग्रह बन जाते हैं। उन ग्रहों से दूसरे उपग्रह बनते हैं। इसी प्रकार के ग्रहों में से हमारी पृथ्वी भी एक ग्रह है और पूर्वोक्त रीति से ही बनी है। इसका बनाने वाला कोई ईश्वर या परमात्मा मानने की आवश्यकता नहीं। यह पृथ्वी पहले गर्म थी धीरे-धीरे ठण्डी हुई समुद्र बने उसमें भूमि निकली और जीवन प्रारम्भ हुआ। जड़ से ही जीवित प्राणी पैदा हो गए। कहने का अभिप्राय यह है कि आधुनिक विज्ञान सजीव और निर्जीव का भेद स्वीकार नहीं करता। वैज्ञानिकों के मत में यह सजीवता भी एक प्राकृतिक पदार्थ है क्योंकि यह चेतन केवल प्रोटोप्लाज्म (Protoplasm) है। यह एक तरल पदार्थ है जो कि अंगारतत्त्व (Carbon) जलीय तत्त्व (Hydrogen) नाइट्रोजन

(Nitrogen) फासफोरस (Phosphorus) आदि बारह भौतिक पदार्थों से ही बना है। इस प्रकार जीव-तत्त्व भी भौतिक पदार्थों का ही परिणाम है और प्रकृति सर्वथा स्वतन्त्र रूप से ही इस चराचर जगत् की सृष्टि कर देती है इसके लिए किसी चेतन परम-तत्त्व के मानने की आवश्यकता नहीं। भारतीय दर्शनशास्त्र और आधुनिक विकासवाद अथवा भौतिकवाद में मौलिक अन्तर जड़ से चेतन को पृथक मानना ही है। इन दोनों वादों के सामान्य विवेचन को समक्ष रखते हुए हम शुक्लजी की प्रकृति सम्बन्धी धारणाओं को समझ सकते हैं। शुक्ल जी इस व्यक्त जगत् के मूल तत्त्व प्रकृति को नित्य मानते हैं। 'विश्वप्रपंच' की भूमिका में वे लिखते हैं—"विश्व में जितना द्रव्य है उतना ही सदा से है और सदा रहेगा—उसमें से न घट सकता है न बढ़ सकता है।" भारतीय दर्शन धारा में भी प्रकृति को अनादि एवं नित्य तत्त्व माना गया है। प्रकृति की नित्यता में उसके गुणों की परिणाम-शीलता में आधुनिक वैज्ञानिकों तथा भारतीय दार्शनिकों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। शुक्लजी की स्थिति भी इस सम्बन्ध में सर्वथा स्पष्ट है। वह मूल तत्त्व स्वयं गति करने वाला है अथवा इसमें गति देने के लिए किसी परम चेतन तत्त्व की आवश्यकता है इस सम्बन्ध में शुक्लजी का झुकाव वैज्ञानिक पक्ष की ओर ही परिलक्षित होता है। वे प्रकृति को स्वभाव से ही गतिशील मानते हैं। वे कहते हैं—

"द्रव्य और शक्ति (गति) का नित्य सम्बन्ध है। एक की सत्ता दूसरे के बिना हो नहीं सकती। न शक्ति के बिना द्रव्य रह सकता है और न द्रव्य के आश्रय के बिना शक्ति काम कर सकती है। अपने चारों ओर जो कुछ हम देखते हैं वह सब द्रव्य और शक्ति का ही कार्य है।"

आधुनिक वैज्ञानिकों के ईश्वर सम्बन्धी कल्पनाओं तथा भौतिक शक्तियों के आकर्षण व विकर्षण (अपसरण) के सिद्धान्तों के प्रति भी शुक्ल जी की आस्था प्रतीत होती है। भूत और शक्ति के परस्पर आत्यन्त सम्बन्ध की चर्चा करने के उपरान्त शुक्लजी लिखते हैं—"शक्ति की इस दोमुही (आकर्षण-विकर्षण) चाल से जगत् की स्थिति है। यदि शक्ति सबके एक

ही रूप में कार्य करती तो जगत् की अनेकरूपता न रहती या यों कहिए कि जगत् ही न होता।"

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गुप्तजी की भारतीय दार्शनिकों की विचारधारा के प्रति सर्वथा अनास्था नहीं है। इन भौतिक विज्ञान-वादों के प्रति आस्था केवल विरोधी प्रमाणों के अभाव के कारण से ही है, अन्यथा उनके अन्तःकरण में संस्कार रूप से भारतीय दार्शनिकों की आस्थाएँ विद्यमान हैं। इन्हीं संस्कारों के कारण ही वह स्थान-स्थान पर अपने निबन्धों में दर्शनशास्त्र में प्रतिपादित तथ्यों को अपने पक्ष के समर्थन के लिए प्रस्तुत कर देते हैं। 'काव्य व लोकमंगल की साधनावस्था' शीर्षक निबन्ध में सांख्यदर्शन में प्रतिपादित तीन गुणों की तथा परम चेतन तत्त्व की चर्चा भी कर दी है—"जबकि साम्यावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् में आदि से अन्त तक तमस्, रजस्, और सत्त्व तीनों गुण रहेंगे तब समष्टि रूप में लोक के बीच मंगल का विधान करने वाली ब्रह्म की आनन्दकला के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण दोनों सत्त्वगुण के अधीन होकर उसके इशारे पर काम करें।" यही आस्था उन्हें वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद की प्रशंसा में प्रवृत्त करती है। भौतिक विज्ञान में परमाणु (Atoms) का बड़ा महत्त्व है। नवीन विज्ञान बतलाता है कि प्रत्येक परमाणु कई इलेक्ट्रोनों से बना है। इलेक्ट्रोन एक-दूसरे से चिपकते नहीं प्रत्युत दूर-दूर रहते हैं। जिस प्रकार हमारे तारागण दूर-दूर रहकर भी एक ताराचित्र या सौर जगत् कहलाते हैं। इसी तरह अनेक इलेक्ट्रोनों से बना हुआ ऐटम भी है। इन परमाणुओं के सम्बन्ध में गुप्तजी के विश्वास का आधार आधुनिक भौतिक विज्ञान ही है। वे लिखते हैं—

"परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता। परमाणु की बात छोड़ दीजिए अणुओं की सूक्ष्मता भी कल्पनातीत है। तीव्र से तीव्र सूक्ष्मदर्शक यन्त्र उनका दर्शन नहीं करा सकते। उनका निरूपण उनके कार्यों द्वारा गणित आदि के सहारे से ही किया जाता है। जल का ही अणु लीजिए जो द्रव के

[illegible] के भाग के बराबर होता है। अब इस अणु की भावना करके बाद परमाणुओं की सूक्ष्मता का इसी से अन्दाजा कर लीजिए। विद्युत तो उससे भी सूक्ष्म हैं। हिसाब लगाया गया है कि हाइड्रोजन के एक परमाणु में १८ और रेडियम के एक परमाणु में १८ विद्युत् होते हैं। इन विद्युतणुओं के बीच का अन्तर उनकी सूक्ष्मता के हिसाब से बहुत अधिक होता है—उतना ही होता है जितना सौर जगत् के ग्रहों के बीच होता है। अपने परमाणु जगत् के अन्तरिक्ष में वे परस्पर शक्ति सम्बद्ध होकर निरन्तर उसी प्रकार वेग से भ्रमण करते रहते हैं जिस प्रकार सौर जगत में यह उपग्रह भ्रमण करते हैं। इसी का नाम है—'भवचक्र'। परमाणु के भीतर भी वही व्यापार हो रहा है। जो ब्रह्माण्ड के भीतर। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' वाली बात समझिए।"

भारतीय वैशेषिक दर्शन में परमाणुवाद का उल्लेख हुआ है। इस दर्शन के सिद्धान्तानुसार सारे स्थूल पदार्थों के मूल उपादान कारण निरवयव सूक्ष्म परमाणु हैं। पृथ्वी जल आदि भूतों के अपने-अपने निरवयव सूक्ष्म एवं नित्य परमाणु हैं। उपादान कारणभूत इन परमाणुओं के परस्पर संयोग को इन भूतों की उत्पत्ति में साधारण कारण माना गया है और इसके अतिरिक्त चेतन आत्म तत्त्व को भी पृथक् द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। शुक्लजी ने वैशेषिक के परमाणुवाद की प्रशंसा करके भारतीय दर्शन के प्रति अपनी आस्था का संकेत दिया है, परन्तु चेतन तत्त्व के प्रति उनकी धारणा वैज्ञानिक भौतिकवादियों के अनुरूप है। वे लिखते हैं—"भूतों और परमाणुओं का सम्बन्ध वैशेषिक में उसी रीति से निर्धारित किया है जिस रीति से आधुनिक रसायन शास्त्र ने—यह हमारे लिए कम गौरव की बात नहीं।" इस आस्था के रहने पर भी वे भौतिकवादियों के सिद्धान्त से प्रभावित हैं और वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणुओं को निरवयव एवं अखण्ड स्वीकार नहीं करते। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसन्धान के परिणामस्वरूप आज यह सिद्ध हो गया है कि परमाणुओं (Atoms) के भी खण्ड किए जा सकते हैं। अतएव शुक्लजी इन अणु

सम्भावों के प्रति अपनी सहमति प्रकट करते हुए परमाणुओं के बनने-बिगड़ने होने के प्रमाणों का उल्लेख करते हैं—"पर अब युरेनियम रेडियम आदि कई नए मूल द्रव्यों के मिलने से ऐसे प्रमाण भी मिल गए हैं। शुक्लजी परमाणु तत्त्व के सम्बन्ध में तो वैज्ञानिकों की खोज के प्रति पूर्ण सहमत प्रतीत होते हैं परन्तु सजीव और निर्जीव के सम्बन्ध में उनकी आस्था का स्वरूप स्पष्ट नहीं क्योंकि वह निश्चयात्मक नहीं है। उन्हें इस बात की सम्भावना अवश्य प्रतीत होती है कि यदि वैज्ञानिक अनुसन्धान इसी प्रकार से आगे बढ़ते चले गए तो आशा है कि एक दिन विज्ञान आत्म-अनात्म के अन्तर को समाप्त कर देगा। वे अपने युग में इस अन्तर का अभाव नहीं देख सके हैं। भविष्य में उसकी सम्भावनामात्र कर सके हैं। उनका यह निम्नलिखित कथन प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत है—

"पहले के वैज्ञानिकों का परमाणुओं के भीतर की शक्तिशक्ति की ओर ध्यान नहीं था इससे द्रव्य की मूल शक्तियों को समझने के लिए उन्हें शक्ति का बाहर से आरोप करना पड़ता था। पर अब जैसा कि पहले कहा जा चुका है रेडियम के मिलने से परमाणु के भीतर विद्युच्छक्ति के चक्रों का पता मिल गया है जिससे सजीव और निर्जीव द्रव्य का अन्तर बहुत कुछ कम हो गया है। इस सम्बन्ध में शुक्लजी रासायनिकों की असफलता से अनभिज्ञ नहीं हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि अभी तक उन्हें सजीव द्रव्य के मूल आदिम रूप की ठीक धारणा नहीं हो सकी है। सजीव द्रव्य के इस आदिम रूप को केवल पुरातन पौराणिक कथाओं के आधार पर या केवल भारतीय दार्शनिकों के प्रमाण पर ही सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसके लिए वैज्ञानिक प्रयोगों के आधार की अपेक्षा है। यदि आत्मवादी कहीं अपने अनुसन्धानों से चैतन्य की नित्य सत्ता सिद्ध कर दें तो भौतिकवाद को विवश होकर आत्मवादियों की भावना के आगे सिर झुकाना पड़ेगा।

जीव—भारतीय दार्शनिकों ने चेतन जीव तत्त्व की सत्ता स्वीकार की है। जीवों के शरीर के सम्बन्ध में भी भारतीय विश्वास है कि जीवों के कर्मानुसार परमेश्वर शरीर देता है। संसार में जितने भी प्राणी हैं उन सब

की अपनी अलग स्थिति है। अपने-अपने कर्मों के अनुसार जीव को विभिन्न योनियाँ प्राप्त होती हैं। इसके विपरीत विकासवाद इस स्थिर योनि के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। विकासवाद की धारणा के अनुसार पृथ्वी पर चेतन वस्तु उत्पन्न हुई और धीरे-धीरे बढ़ती चली गई। पहले वहाँ न वनस्पति थी और न जन्तु, किन्तु दोनों को उत्पन्न करने वाली चेतनता थी। यह ध्यान रहे कि यह चेतनता जड़ प्रकृति से ही उत्पन्न होती है। उस चेतनता की एक शाखा एक कोष्ठधारी अमीबा (Amoeba) बन गई। ये अमीबा इतने बढ़े कि उनके खाने-पीने की दिक्कत होने लगी। वे नाना प्रकार के प्रयत्न करने लगे। उनकी सन्तति जो शारीरिक प्रयत्न और मानसिक अभ्यास में बलवान् थी और जीवन संग्राम में बच गई वह फिर बढ़ी। भोजन की तंगी के कारण संग्राम जारी रहा और बहुत दिन के बाद मरते-बचते तथा परिस्थिति के अनुसार आकार-प्रकार बदलते-बदलते मछली मेंढक सर्प पक्षी बैल बन्दर वनमानव और मानव उत्पन्न हुए। जीव की उत्पत्ति तथा विभिन्न रूपों को धारण करने के सम्बन्ध में शुक्लजी उक्त विकासवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। वे पौराणिक ग्रन्थ विचारों को स्वीकार नहीं करते। वे यह नहीं मानते कि जीव की योनियाँ स्थिर हैं और उनकी संख्या आदि से ही चौरासी लाख है। वे तो विकासवाद के समान ही एक जाति के जीवों से ही दूसरी जाति के जीवों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। 'विश्व प्रपंच' की भूमिका के ये शब्द प्रमाण स्वरूप हैं—

"विकास-सिद्धान्त के पहले लोगों का विश्वास था कि इस समय पृथ्वी पर जितने प्रकार के जीव हैं सबके सब सृष्टि के आदि में एक साथ ही उत्पन्न किये गए। डारविन ने यह दिखाकर कि एक ही प्रकार के आदिम क्षुद्र जीवों से क्रमशः नाना प्रकार के जीवों का विधान होता आया है स्थिर योनि सिद्धान्त का पूर्णरूप से खण्डन कर दिया है।"

विकासवाद के जीव-विकास सम्बन्धी इस सिद्धान्त का समर्थन उन्होंने प्रकृति के गुणात्मक परिवर्तन के नियम से किया है और इस सम्बन्ध में

प्राचीन चार्वाक मत की चर्चा भी की है। इस मत के अनुसार किण्व या खमीर से मदशक्ति के समान चैतन्य उत्पन्न होता है। शुक्लजी भी सर्वांशतः या जीवन को किण्व परम्परा ही स्वीकार करते हैं। जीवों के अनेक रूपात्मकता के मूल में प्रकृति के गुणात्मक परिवर्तन के नियम का उल्लेख करते हैं। वे कहते हैं—

"एक प्रकार के जन्तु से दूसरे प्रकार के जन्तु एकबारगी तो उत्पन्न नहीं हो गए। दोनों के बीच की वंश-परम्परा में ऐसे जन्तु रहे होंगे जिनमें थोड़े बहुत दोनों के लक्षण रहे होंगे। इस प्रकार के मध्यवर्ती जन्तु कुछ तो अब भी मिलते हैं और कुछ की ठठरियाँ भूगर्भ में मिलती हैं।

शुक्लजी उक्त लेखों में विकासवाद का स्पष्ट समर्थन प्राप्त होता है। इसी समर्थन के प्रसंग में उन्होंने चर-अचर पदार्थों के भेद को भी स्वीकार नहीं किया है और वे तथाकथित अचर पेड़-पौधों में भी जीवत्व को स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं —

"पहले लोग समझते थे कि जन्तु चर हैं और पौधे अचर। मनुस्मृति में लिखा है कि उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः। पर वास्तव में चर-अचर का भी भेद नहीं है। बहुत से ऐसे जन्तु हैं जो अचर हैं जैसे स्पंज मूंगा आदि और बहुत से ऐसे सूक्ष्म समुद्री पौधे होते हैं जो बराबर चलते फिरते हैं।

उक्त वर्णनों से यह स्पष्ट है कि शुक्लजी ने जीव-विकास के स्वतन्त्र खोज नहीं की। केवल विकासवाद के सिद्धान्तों तथा तथ्यों को अपनी धारणा का आधार बनाया है। भारतीय धारणा केवल मनुष्य को जीवन का सरताज नहीं मानती उसमें इच्छा रागद्वेष सुख-दुःख धर्म-अधर्म की सत्ता भी अनिवार्यतः स्वीकार की जाती है। पौधों में सुख-दुःख की संवेदना शुक्लजी ने भारतीय वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र वसु के कथनानुसार स्वीकार की है। शुक्लजी की वैज्ञानिक दृष्टि प्राचीन और धार्मिक विश्वासों के अनुसार यह मानने के लिए उद्यत नहीं है कि प्रभु-परमात्मा ने जिस जीव को जिस योनि के योग्य समझा उसको उसी योनि में उत्पन्न किया। इससे यह भी स्पष्ट

है कि वे यह भी नहीं मान सकते कि इस सृष्टि की उत्पत्ति का प्रधान कारण जीवों के कर्म और परमेश्वर का न्याय ही है। उनकी दृष्टि में इस उक्ति में भी कोई सार नहीं कि जीव अनादिकाल से कर्म करते चले आ रहे हैं और परमात्मा भी अनादिकाल से उनको कर्मफल देता चला आ रहा है।

मानव—जीव-विकास प्रक्रिया में शुक्लजी ने अपनी प्रवृत्ति विकासवाद की मान्यताओं की ओर प्रदर्शित की है परन्तु सकल जीवों में श्रेष्ठ मानव के स्वरूप कर्तव्य आदि के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए वे नैतिकता के प्रबल समर्थक सिद्ध होते हैं। विकासवाद की मान्यताएँ उन्हें कर्म सौन्दर्य के पर्यवेक्षण से दूर नहीं कर सकी हैं। पाश्चात्य मत या वैज्ञानिक विकासवाद उनकी बुद्धि-वृत्ति को ही प्रभावित कर सके हैं। उनकी हृदय-वृत्ति उस प्रभाव से कुछ मुक्त अवश्य रही है और वह भूतवादी वैज्ञानिकों की भांति मानव को पशुतुल्य देखने से रोकती रही। उनकी कल्पना में मानव अत्यन्त उत्कृष्ट प्राणी है सामान्य पशुतुल्य नहीं है। यद्यपि वह विश्वविधान का क्षुद्र चेतन अंश है तथापि उसमें प्राणी एवं जीव तत्त्व की उच्चकोटि की सत्ता का बोध होता है। वह जीवन विकास की चरम सीमा है। मानव में दो वृत्तियाँ बुद्धि और हृदय मूलरूप से विद्यमान हैं। इन दोनों वृत्तियों को रागात्मिकावृत्ति और बोधवृत्ति भी कहा जा सकता है। मानवता का पूर्ण विकास इन दोनों वृत्तियों के सामंजस्य अर्थात् मेल में है। सम्पूर्ण मानवता इन्हीं दो वृत्तियों के आधार पर टिकी हुई है। अपने भाव या मनोविकार शीर्षक लेख में शुक्लजी लिखते हैं—

"अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है। उच्च प्राणी मनुष्य भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है।" बच्चे के छोटे-से हृदय में पहले सुख और दुःख की सामान्य अनुभूति भर के लिए जगह होती है। पेट का भरा या खाली रहना ही ऐसी अनुभूति के लिए पर्याप्त होता है। जीवन के आरम्भ में इन्हीं दोनों के चिह्न हँसना और रोना देखे जाते हैं। पर ये अनुभूतियाँ बिलकुल सामान्य रूप में रहती हैं विशेष विशेष विषयों की ओर विशेष-विशेष रूपों में ज्ञानपूर्वक उन्मुख नहीं होतीं।

मानव का यह प्रारम्भिक स्वरूप पशु-तुल्य होता है। इस रूप के मूल में केवल रागात्मिका वृत्ति अपने दो रूपों—सुख-दुःख के साथ रहती है, परन्तु आयुवृद्धि के साथ-साथ शिशुमानव को जब नाना विषयों का अपनी दूसरी वृत्ति बुद्धि के द्वारा बोध होने लगता है तो उसकी मूल दोनों अनुभूतियों के विभिन्न विकार उत्पन्न होने लगते हैं। इन्हें ही मनोविकार या भाव पुकारा जाता है। मानवता का विकास यहीं से प्रारम्भ होता है। पशुता और मानवता का भेद इसी बिन्दु पर होता है। इसके विस्तार के साथ ही मानवता का स्वरूप प्रस्फुटित होने लगता है। मानवता और पशुता के अन्तर को शुक्लजी इसी रूप में ग्रहण करते हैं। हृदयवृत्ति और बुद्धिवृत्ति के परस्पर सहयोग से मानव प्राणी का जो स्वरूप उद्भासित होने लगता है वह अन्यचेतन प्राणियों की अपेक्षा अत्यन्त उच्चकोटि का होता है। 'कविता क्या है' शीर्षक लेख में मनुष्यता की उच्चभूमि का निर्देश करते हुए शुक्लजी ने मानवता सम्बन्धी उक्त धारणा को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

"पशुत्व से मनुष्यत्व में जिस प्रकार अधिक ज्ञान प्रसार की विशेषता है उसी प्रकार अधिक भाव प्रसार की भी। पशुओं के प्रेम की पहुँच प्रायः अपने जोड़े, बच्चों या खिलाने-पिलाने वालों तक ही होती है। इसी प्रकार उनका क्रोध भी अपने सताने वालों तक ही जाता है, स्ववर्ग या पशुमात्र को सताने वालों तक नहीं पहुँचता। पर मनुष्य में ज्ञानप्रसार के साथ-साथ भावप्रसार भी क्रमशः बढ़ता गया है। अपने परिजनों, अपने सम्बन्धियों, अपने पड़ोसियों, अपने देशवासियों क्या मनुष्यमात्र और प्राणीमात्र तक से प्रेम करने भर की जगह उसके हृदय में बन गई है। मनुष्य की त्योरी मनुष्य को ही सताने वाले पर नहीं चढ़ती, गाय, बैल और कुत्ते-बिल्ली को सताने वाले पर भी चढ़ती है। पशु की वेदना देखकर भी उसके नेत्र सजल होते हैं।"

मनोविकार—उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि शुक्लजी की धारणा के अनुसार मानवता के लिए ज्ञानप्रसार तथा भावप्रसार की अत्यन्त आवश्यकता है। मानव अपनी ज्ञानशक्ति के द्वारा अपने पार्श्ववर्ती विश्व का मर्म-मर्म ज्ञान प्राप्त करने लगता है और वही ज्ञान उसके हृदय में विभिन्न

भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। शुक्लजी का इस सम्बन्ध में यह एक सिद्धान्त वाक्य है कि आत्मप्रसार के भीतर ही भावप्रसार होता है। मानव को इस आत्मप्रसार ने उच्चकोटि का प्राणी बना दिया है। अन्य प्राणियों के समान उसकी सुख-दुःखमूलक अनुभूतियाँ विभिन्न विषयों के ज्ञान का आश्रय पाकर विविध रूपों को धारण करने लगती हैं। ये ही विविध रूप भावना मनोविकार कहलाते हैं। वे इस सम्बन्ध में लिखते हैं—

"अतः हम कह सकते हैं कि सुख और दुःख की मूल अनुभूति ही विषय भेद के अनुसार प्रेम हास उत्साह आश्चर्य क्रोध भय करुणा घृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है। ... मनोविकारों या भावों की अनुभूतियाँ परस्पर तथा सुख या दुःख की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती हैं जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक द्रव्यों से भिन्न होते हैं। विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है।"

शुक्लजी मनोविकारों को मानव के लिए परमोपयोगी मानते हैं। मानव का काम सुख दुःखात्मक मूल अनुभूति से नहीं चल सकता है। उसके लिए इसके साथ ये अनन्त ज्ञान जटिल भावों—मनोविकारों की नितान्त आवश्यकता है। वे इन्हें ही समस्त मानव जीवन के प्रवर्तक रूप में स्वीकार करते हैं। वे समझते हैं कि मनुष्य की प्रवृत्तियों की तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक रूप में पाए जाते हैं। आत्मरक्षा-आत्मरंजन लोकरक्षा-लोकरंजन समाज व्यवस्था-शासन व्यवस्था धर्मभावना साहित्यकला विस्तार आदि सभी प्रकार की मानव प्रवृत्तियों के मूल में ये ही मनोविकार अपने किसी न-किसी रूप में रहते हैं। यही कारण है कि उन्होंने प्रधानतम मनोविकारों के स्वरूप व लक्षण बड़े विस्तार के साथ अपने निबन्धों में वर्णित किए हैं।

मनोविकारों का वर्गीकरण—मूल अनुभूतियों के आधार पर शुक्लजी ने मनोविकारों के दो वर्ग किये हैं। सुखात्मक में प्रेम लोभ उत्साह, श्रद्धा भक्ति को परिगणित किया है और दुःख वर्ग में भय करुणा [illegible] लज्जा

घृणा तथा ईर्ष्या को परिभाषित किया है। मानव के स्वरूप ज्ञान के लिए इनके स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है अतएव उन्होंने इनके स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की है।

शुक्लजी प्रेम—शुक्लजी ने सर्वप्रथम प्रेम और लोभ की चर्चा की जा सकती है। 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध में शुक्लजी ने प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रेम लोभ का एक सात्विक रूप है। उनका प्रेम का लक्षण यह है—

"विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं 'लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख है। कहीं कोई अच्छी चीज सुनकर दौड़ पड़ना लोभ है। किसी विशेष वस्तु पर इस प्रकार मुग्ध रहना कि उससे कितनी ही अच्छी-अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उस विशेष वस्तु से प्रवृत्ति न हटे, रुचि या प्रेम है। 'साधारणतः' मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।"

यह स्पष्ट है कि शुक्लजी प्रेम को व्यक्तिनिष्ठ मानते हैं वस्तुनिष्ठ नहीं। यही कारण है कि उन्होंने जन्मभूमि के प्रेम घर के प्रेम स्वदेश प्रेम को स्थान-लोभ मात्र स्वीकार किया है। वे इन्हें लोभ का प्रशस्त रूप तो मानते हैं परन्तु प्रेम भाव के अन्तर्गत नहीं मानते। अपनी इस धारणा के आधार को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने व्यक्ति और वस्तु के प्रति भावना के अन्तर को स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं—"वस्तु लोभ के आश्रय और आलम्बन इन दो पक्षों में भिन्न-भिन्न कोटि की सत्ताएँ रहती हैं पर प्रेम एक ही कोटि की दो सत्ताओं का योग है, इससे वही अधिक गूढ़ और पूर्ण होता है।"

प्रेम के स्वरूप की इस विशदता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने प्रेम के आश्रय अर्थात् प्रेमी के स्वरूप की भी चर्चा की है। वस्तु लोभ का आश्रय अर्थात् लोभी वस्तु के भीतर अपना नहीं देखता अतएव वह उस पर अपना

प्रभाव डालने का यत्न नहीं करता परन्तु व्यक्ति-लोभी अर्थात् प्रेमी अपने प्रिय की अन्तर्वृत्ति पर प्रभाव डालने में तत्पर रहता है। वे लिखते हैं—"प्रभाव डालने की यह वासना प्रेम उत्पन्न के साथ ही जगती है और बढ़ती चली जाती है। किसी वस्तु पर लुब्ध होकर कोई इस चिन्ता में नहीं पड़ता कि उस वस्तु को मालूम हो जाए कि वह उस पर लुब्ध है पर किसी पर लुब्ध या प्रेमासक्त होते ही प्रेमी इस बात के लिए आतुर होने लगता है कि प्रिय को उसके प्रेम की सूचना मिल जाए। प्रेमी यह चाहने लगता है कि जिस प्रकार प्रिय मुझे अच्छा लगता है उसी प्रकार मैं भी प्रिय को अच्छा लगूं। वह अपना सारा अच्छापन किसी-न-किसी बहाने उसके सामने रखना चाहता है।"

प्रेम की पूर्णता के लिए दो हृदयों—आश्रय और आलम्बन की अभिन्नता परमावश्यक है। शुक्लजी के शब्दों में दो हृदयों की यह अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभव-पथ का द्वार है। इसी एकता की तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के लिए प्रेमी प्रेम के प्रादुर्भाव काल से यत्नशील रहता है, क्योंकि वह समझता है कि इसकी प्रतिष्ठा हो जाने पर ही उसके प्रेम को पूर्ण सफलता मिल सकती है। उन्होंने इसी प्रसंग में प्रेम के अत्यन्त विशुद्ध रूप की भी चर्चा की है। इस निखरे हुए प्रेम में तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा भी अनिवार्य नहीं रहती। वे कहते हैं—

"तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता में कोई त्रुटि नहीं आ सकती। जहाँ तक ऐसे प्रेम के साथ तुष्टि की कामना या अतृप्ति का लोभ लगा दिखाई पड़ता है वहाँ तक तो उसका सत्स्वरूप प्रकट नहीं होता। पर जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले ही से नहीं रहती वहाँ प्रेम का अत्यन्त निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रेम की अविचल प्रतिष्ठा अत्यन्त उच्च भूमि पर होती है जहाँ सामान्य हृदयों की पहुँच नहीं हो सकती। इस उच्च भूमि पर पहुँचा हुआ प्रेमी प्रिय से कुछ भी नहीं चाहता है। 'ऐसे प्रेमी के लिए प्रिय की तुष्टि या सुख से अलग अपनी कोई तुष्टि या सुख रह ही नहीं

जाता। प्रिय का सुख-सन्तोष ही उसका सुख-सन्तोष हो जाता है।"

जिस प्रकार प्रेम के सामान्य और विशेष रूप की कल्पना शुक्लजी ने की है इसी प्रकार उन्होंने प्रेम के प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए प्रेम के दो भिन्न स्वरूपों में से एक स्वरूप के प्रति अपनी रुचि भी प्रदर्शित की है। वे लिखते हैं—

'प्रेम का प्रभाव एकान्त भी होता है और लोक-जीवन के नाना क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ता है। एकान्त प्रभाव उस अन्तर्मुख प्रेम में देखा जाता है जो प्रेमी को लोक के कर्मक्षेत्र से खींचकर केवल दो प्राणियों के एक छोटे से संसार में बन्द कर देता है।"

शुक्लजी की रुचि लोक-जीवन से संश्लिष्ट प्रेम की ओर है। उन्हें वह एकान्तिक प्रेम ग्राह्य नहीं जो प्रेमी को रोगी बनाकर एक कोठरी में बन्द कर देता है। लोक-जीवन-संश्लिष्ट प्रेम अपना मधुर और अनुरंजनकारी प्रकाश जीवन-यात्रा के नाना पथों पर फेंकता है। इसी के प्रभाव से प्रेमी को अपने आस पास चारों ओर सौन्दर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है। इसी ज्योति से जगमगाते जगत् के बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्म सौन्दर्य अपने प्रिय को दिखाना चाहता है। शुक्लजी की उपयोगितावादी प्रवृत्ति प्रेम के ऐसे ही स्वरूप को ग्रहण कर सकती है। उनकी यह प्रवृत्ति निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट झलकती है—

"हम उस प्रेम का अभिषेक मान करते हैं जो एक संजीवन रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन-पथ को रमणीय और सुन्दर कर देता है, उसके सारे कर्मक्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है। जो प्रेम जीवन की नीरसता हटाकर उसमें सरसता ला दे वह प्रेम धन्य है। जिस प्रेम का रंजनकारी प्रभाव विद्वान् की बुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता और वीर के उत्साह तक बराबर फैला दिखाई दे उसे हम भगवान् का अनुग्रह समझते हैं।

शुक्लजी ने प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए तुलनात्मक पद्धति से भी उपयोग लिया है। करुणा और प्रेम में एक समता यह है कि ये दोनों

वृत्तियाँ कोमल हैं और दूसरों को द्रवित करने वाली हैं। द्रवित करने की प्रक्रिया में विषमता है। दूसरे के हृदय में प्रेम का संचार करने के लिए विभिन्न विशेषताओं तथा चेष्टाओं की आवश्यकता रहती है। इस पर भी यह निश्चय नहीं होता कि उनसे दूसरे में भाव-संचार हो ही जाएगा। दूसरी ओर करुणा का पात्र होने के लिए केवल अपनी पीड़ा का प्रदर्शन मात्र पर्याप्त होता है। यही कारण है कि प्रेमी अपने प्रिय के अन्तःकरण में प्रेम संचार करने के लिए सर्वप्रथम करुणा उत्पन्न करने का प्रयास किया करता है। इसी प्रकार प्रेम का श्रद्धा से भी अन्तर होता है। उनके शब्दों में श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण। प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है।

शुक्लजी ने प्रेम के कारणों पर भी प्रकाश डाला है। सामान्यतः रूप लोभ को प्रेम का प्रवर्तक माना जाता है। प्रायः किसी के उत्कृष्ट रूप-गुण पर मुग्ध होकर ही मानव उसका प्रेमी बन जाता है परन्तु इससे भिन्न साहचर्य भी प्रेम का कारण होता है। इस साहचर्यजन्य प्रेम में यह विशेषता होती है कि इसका रंग साहचर्यकाल में तो कुछ अवसरों पर ही रह-रहकर व्यक्त होता है पर वियोग-काल में बराबर चमका रहता है। भाई-बहन पिता पुत्र इष्ट मित्र से लेकर चिर-परिचित पशु-पक्षी तक का प्रेम इसी प्रकार होता है। देश प्रेम भी इसी साहचर्य-जन्य भाव का ही एक रूप है।

प्रेम की अन्य सब भावों से विलक्षणता का संकेत भी शुक्लजी ने किया है। वे कहते हैं—

"यही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यंजना हँसकर भी की जाती है और रोकर भी जिसके व्यंजक दीर्घ निःश्वास और अश्रु भी होते हैं तथा हर्ष पुलक और उछल-कूद भी। इसके विस्तृत शासन के भीतर आनन्दात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार आ जाते हैं। ... कोई और भाव ऐसा नहीं है जो आलम्बन के रहने पर तो एक प्रकार की मनोवृत्तियाँ और चेष्टाएँ उत्पन्न करे और न रहने पर बिलकुल दूसरे प्रकार की।"

लोभ—के भी दोनों सुखात्मक और दुःखात्मक पक्ष होते हैं। लोभ का स्वरूप शुक्लजी ने इन शब्दों में वर्णित किया है—

"किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े लोभ कहते हैं।"

रुचिकर वस्तु की प्राप्ति की स्थिति में लोभ सुखात्मक है परन्तु उसके अभाव में या अभाव की आशंका से वही दुःखात्मक हो जाता है। लोभ का दुःखात्मक पक्ष सुखद वस्तु की अप्राप्ति में अथवा अभाव की स्थिति में स्पष्ट होता है। सामान्यतः लोभ आनन्द स्वरूप ही है, क्योंकि उसका प्रथम संवेदनात्मक अवयव किसी वस्तु का अच्छा लगना उससे बहुत सुख या आनन्द का अनुभव होना है। मानव का यह लोभ तभी प्रकट होता है जब इस संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का संयोग होता है। जब तक मनुष्य किसी आनन्दप्रद वस्तु की प्राप्ति की उसे दूर न करने की उसकी रक्षा की इच्छा प्रकट नहीं करता तब तक उसका लोभ व्यक्त नहीं होता है। लोभ के इन पक्षों के अतिरिक्त शुक्लजी ने लोभ के अवयवों की भी व्याख्या प्रस्तुत की है। लोभ का सबसे प्रधान अंग प्रिय वस्तु की इच्छा है। स्थिति भेद से इच्छा के भी दो रूप होते हैं—(१) प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा (२) दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। इनमें से प्रथम सुन्दर एवं रुचिकर वस्तु की प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा के भी दो रूप होते हैं। हम ऐसी वस्तु को प्राप्त करके उसे या तो अपने इतना समीप रखना चाहते हैं जितना किसी अन्य के न हो या हम केवल इतने सम्पर्क की इच्छा करते हैं, जितना बहुत से लोग एक साथ रख सकते हैं। सामीप्य की इच्छा के इन दो रूपों के कारण लोभ के मूल स्वरूप में भी अन्तर पड़ जाता है। यदि हम किसी ऐसी सुखदायी वस्तु को जिसे अन्य लोग भी चाहते हैं, अपने अत्यन्त समीप रखना चाहते और अन्य लोगों को उसके पास तक नहीं जाने देते तो यह लोभ विरोधप्रसूत एवं प्रतिस्पर्धात्मक होगा। जिस वस्तु को सब लोग अपने पास रखना चाहते हैं वह बहुत से लोगों को एक मैदान

में लाकर खड़ा कर देती है। इस प्रकार की इच्छा वाला लोभ मानवों के पारस्परिक संघर्ष का कारण बन जाता है। इसके विपरीत यदि हम किसी सुखप्रद वस्तु से लुब्ध होकर भी अपने उतने ही सान्निध्य में रखना चाहते हैं जितने से अन्य किसी के मन में विरोध उत्पन्न नहीं होता और अन्य लोग भी हमारे समान ही उसका सम्पर्क रख सकते हैं तो लोभ का यह रूप विरोध ग्रस्त न होकर सद्भाववर्धक होगा। लोभ सम्बन्धी इच्छा का दूसरा रूप रक्षा की इच्छा अर्थात् सुखप्रद वस्तु को दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा है। रक्षा की इच्छा के भी दो प्रकार होते हैं—(१) स्वायत्त रक्षा की इच्छा (२) स्वनिरपेक्ष रक्षा की इच्छा। इन दोनों प्रकारों के कारण भी लोभ के पूर्वकथित विरोधग्रस्त तथा सद्भाववर्धक ये दो रूप हो जाते हैं। स्वायत्त रखने की इच्छा प्रायः अनन्य उपभोग या उपयोग की वासना से सम्बद्ध रहती है इससे यह कभी-कभी लोगों को खटकती है और लोग उसका विरोध करते हैं। ऐसी स्थिति में भी यदि सरक्ष्य वस्तु के उपयोग या उपभोग में अन्य जनों को कोई बाधा नहीं पहुँचती है तो किसी एक का उसे अपनी रक्षा में रखना दूसरे को बुरा नहीं लगता। दूसरी ओर स्वनिरपेक्ष रक्षा की इच्छा लोभ को उदात्त रूप प्रदान करती है जिससे परस्पर मेल की वृद्धि होती है। यह इच्छा मानव समाज को एकता के सूत्र में बाँधने में सहायक बन जाती है।

लोभ के स्वरूप के उक्त विश्लेषण को दृष्टि में रखते हुए शुक्लजी ने लोभ के निन्द्य तथा प्रशस्त रूप की भी चर्चा की है। जो लोभ दूसरे की सुख-शान्ति या स्वच्छन्दता का बाधक होता है अधिकतर वही निन्द्य समझा जाता है। पूर्व वर्णित विरोधग्रस्त लोभ इसी प्रकार का होता है। इसी प्रसंग में उन्होंने लोभ के विषय के दो भेद वर्णित किये हैं। अच्छा खाना अच्छा कपड़ा अच्छा घर तथा धन लोभ के सामान्य विषय हैं। आधुनिक अर्थ व्यवस्था के अनुसार आनुमानिक सिक्कों में अथवा मुद्रांकित कागज के टुकड़ों में सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने की शक्ति प्रतिष्ठित हो गई है अतएव ये ही सिक्के या टुकड़े प्रत्येक मानव के लोभ के सामान्य विषय बन

गए हैं। फलतः इन विषयों का लोभ विरोधग्रस्त हो गया है। लक्ष्य की इस एकता से समाज में एक-दूसरे से पदार्थों के लिए संघर्ष की वृद्धि होने लगी है। शुक्लजी के शब्दों में यदि मनुष्य समाज में सबके लोभ के लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते तो लोभ को बुरा कहने वाले कहीं न मिलते। ऐसी स्थिति में एक के लोभ से दूसरे को कोई कष्ट न पहुँचता। विरोधग्रस्त लोभ का विषय यदि विशेष हो जाता है तो उसकी यह सदोषता अपेक्षाकृत कम हो जाती है। वे कहते हैं—"यदि किसी को गुलाबजामुन या विशेष बूटी की छींट बहुत अच्छी लगे और वह उसे प्राप्त करना या ले लेना चाहे तो उसके इस लोभ पर बहुत कम लोगों का ध्यान जाएगा और जिनका ध्यान जाएगा भी उन्हें वह खटकेगा नहीं। ऐसे लोभ को वह रुचि कहेंगे।

यह स्पष्ट है कि शुक्लजी सामान्य विषयगत अविशेषात्मक लोभ को विशेष-विषय-गत लोभ की अपेक्षा अधिक निम्न समझते हैं। विशेष-विषय गत लोभ के स्वरूप को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'एक लोभ से दूसरे लोभ का निवारण भी होता है जिससे लोभी में अन्य वस्तुओं के त्याग का साहस आता है। विशेष-विषय-गत लोभ यदि बहुत प्रबल और सच्चा हुआ तो लोभी के त्याग का विस्तार बहुत बड़ा होता है। लोभ तो उस एक विशेष निर्दिष्ट वस्तु से है अतः उसके अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं का त्याग वह उसके लिए कर सकता है। विश्वामित्र एक गाय के लिए अपना सारा राज-पाट देने को तैयार हो गए थे। अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।

लोभ को प्रायः दुर्गुण माना जाता है। शुक्लजी ने इस मनोविकार के एक प्रशस्त रूप की भी चर्चा की है। सबको सुख तथा आनन्द देने वाली कई ऐसी वस्तुएँ होती हैं जिनकी रक्षा के लिए सब मिल सकते हैं उसके प्रति लोभ होने पर परस्पर एकता रह सकती है। ऐसी स्थिति उसी अवस्था में उत्पन्न हो सकती है जबकि एक की इच्छा दूसरे की इच्छा की बाधक न होकर साधक हो। तब एक ही वस्तु का लोभ रखने वाले बहुत से लोग सद्भाव के साथ रह सकेंगे। यदि एक सम्प्रदाय के लोग अपने धर्मस्थान

की रक्षा की इच्छा रखते हैं और यह चाहते हैं कि यह सब प्रकार सुसज्जित एवं सुरक्षित हो जाए तो यही इच्छा उनमें एकता का सू बन जाएगी। घर का प्रेम ग्राम का प्रेम देश का प्रेम इसी प्रकार के प्रशस्त लोभ के उदाहरण कहे जा सकते हैं। लोभ के इस प्रशस्त रूप का उल्लेख शुक्लजी ने इन शब्दों में किया है—

'लोभ का सबसे प्रशस्त रूप वह है जो रक्षामात्र की इच्छा का प्रवर्तक होता है जो मन में यही वासना उत्पन्न करता है कि कोई वस्तु बनी रहे चाहे वह हमारे किसी उपयोग में आए या न आए।

लोभ का मानव जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव का स्वरूप भी उन्होंने वर्णित किया है। लोभ की उत्पत्ति किसी वस्तु से मिलने वाले सुख की सम्भावना से होती है अतएव उस वस्तु की ओर लोभी का ध्यान निरन्तर बना रहता है। उसकी प्राप्ति सन्निधि या निरन्तर उपभोग भी मानव को तृप्त नहीं करता। लोभ के परिणामस्वरूप एक अन्य वृत्ति हृदय में उत्पन्न होती है जिसे 'असन्तोष' कहते हैं। मन का लोभ इसी प्रकार का है। इसकी प्राप्ति होने पर भी और प्राप्ति की इच्छा बनी रहती है जिससे मनुष्य सदा आतुर और प्राप्ति की इच्छा बराबर रहता है। उसका सारा अन्तःकरण सदा अभावमय रहता है। उसके लिए उस वस्तु का होना न होना एक समान हो जाता है। लोभ की अतिशयता से उत्पन्न होने वाले इस विकार का वर्णन शुक्लजी ने इस प्रकार किया है—

"असन्तोष अभाव कल्पना से उत्पन्न दुःख है अतः जिस किसी में यह अभाव-कल्पना स्वाभाविक हो जाती है सुख से उसका नाता सब दिन के लिए टूट जाता है। न किसी को देखकर वह प्रसन्न होता है और न उसे देखकर कोई प्रसन्न होता है।

लोभ अपनी उचित सीमा का अतिक्रमण करके मानव की अन्य मनो वृत्तियों के दमन का कारण बन जाता है। इसी रूप के कारण यह अन्य सब मनोविकारों से विलक्षण रूप धारण कर लेता है। पराकाष्ठा तक पहुँचा लोभ मानव के हृदय से रति हास करुणा क्रोध घृणा आदि सभी मनस

भावनाओं को निकास देता है। फलतः उसमें से मानवता का ही लोप होने लगता है। लोभ की दमनकारी प्रवृत्ति का वर्णन शुक्लजी ने इन शब्दों में किया है—

"जो लोभ मान-अपमान के भाव को करुणा और दया के भाव को न्याय-अन्याय के भाव को यहाँ तक कि अपने कष्ट-निवारण या सुखभोग की इच्छा तक को दबा दे वह मनुष्यता कहाँ तक रहने देगा? लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में समान भाव रखते हैं।"

शुक्लजी ऐसे लोभियों के अन्तःकरण को पर्षमृत मानते हैं। वे ऐसे लोभ को भी घृणित समझते हैं और मानवमात्र की अन्तर् स्थिति पर लोभ का शासन स्वीकार करते हैं। मानव की सुखानुभूति से उत्पन्न होने वाला यह मनोविकार मानव जीवन में सुख की कमी द्वारा प्रसारित कर देता है।

उत्साह—उत्साह अपने शुद्ध रूप में आनन्द की उमंग है परन्तु इस उमंग का लगाव जब तक क्रिया-व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता तब तक उसे उत्साह की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। फलतः कर्मभाव के सम्पादन में तत्परता पूर्ण आनन्द उत्साह का सूचक माना जाता है। शुक्लजी का उत्साह का लक्षण इसी धारणा का परिचायक है। वे कहते हैं—*"साहसपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है।"* उत्साह एक मिश्रित अनुभूति है। इसके अवयवों में आनन्द की उमंग धृति और साहस मिले जाते हैं। इसी प्रसंग में शुक्लजी ने 'धृति' और 'साहस' के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक अन्तर को भी स्पष्ट कर दिया है—

'चुपचाप बिना हाथ-पैर हिलाये घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन-से-कठिन प्रहार सह कर भी जगह से न हटना धीरता कही जाएगी।"

उत्साह में ऐसे साहस और धैर्य का संचार होता है परन्तु इन दोनों के साथ आनन्दपूर्ण प्रयत्न की नितान्त आवश्यकता है। उत्साह का पूर्ण स्वरू

आनन्द साहस और धैर्य के योग से ही विकसित होता है। उत्साह के विषय क्षेत्र पर यदि ध्यान दिया जाए तो उत्साह कर्म और उसके फल की मिली जुली अनुभूति है। शुक्लजी के विचार से उत्साही का ध्यान आदि से अन्त तक पूरी कर्म शृंखला पर स होता तथा उसकी सफलता-रूपी समाप्ति तक फैला रहता है। उत्साह का मूल अवयव आनन्द शुद्ध कर्मभावना से फलभावना से तथा विषयान्तर से प्राप्त हो सकता है। आनन्द के इन तीन रूपों के आधार पर उन्होंने उत्साह की उत्तम कोटि का निर्धारण किया है। उनकी दृष्टि में उत्तम कोटि का सच्चा उत्साह वही है जिसके मूल में शुद्ध कर्म भावना से उत्पन्न आनन्द का योग रहता है। फल की इच्छा मात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जाएगा वह अभावमय और आनन्द शून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा। अतएव फलभावना से उत्पन्न आनन्द कर्म-पथ पर चलने के लिए निरन्तर प्रेरणा नहीं देता। इस स्थिति में फल प्राप्ति की सम्भावना के अनुपात में ही उत्साह का वेग मन्द और तीव्र होता रहता है। यदि कभी यह सम्भावना मन्द हो जाती है तो उत्साह का वेग भी क्षीण पड़ जाता है। कर्म भावना में उत्पन्न आनन्द की उमंग में पूर्ण उत्साह फल-प्राप्ति की सम्भावना की अपेक्षा नहीं रखता अतएव वह निरन्तर बना रहता है। शुक्लजी इसी उत्साह को वास्तविक उत्साह मानते हैं। वे लिखते हैं—

"कर्म भावना-प्रधान उत्साह बराबर एकरस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुःखी होता है पर कर्मानुराग उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है। अतः हम यह कह है कि कर्म भावना प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल भावना-प्रधा उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।"

सच्चा उत्साही कर्म में आनन्द की अनुभूति करता है और उसे निरन्तर मी आनन्द से उत्तेजना होती रहती है क्योंकि उसे वह कर्म ही फलस्वरूप तीत होता है। इसी प्रसंग में शुक्लजी ने विषयान्तर से प्राप्त आनन्द के प से उत्पन्न होने वाले सामान्य कोटि के उत्साह का भी उल्लेख किया

है। वे कहते हैं— "कभी-कभी आनन्द का मूल विषय तो कुछ और रहता है पर उस आनन्द के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत-से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं।

उत्साह की मानव जीवन में उपयोगिता निर्विवाद है। इसी के सहारे मानव जाति देश धर्म की रक्षा के लिए भीषणतम युद्धों में भाग लेता है और प्राणों को उत्सर्ग में लगा देता है। घोर से घोर कष्ट सहने में हिम मण्डित गगन-चुम्बी दुर्गम शैल-शिखरों तक पहुँचने में समुद्र की अथाह जलराशि के शोधन में अन्य देशों की यात्रा में मानव की यही उत्साह वृत्ति सहायक सिद्ध हुई है। शारीरिक कष्टों के साथ ही साथ घोर मानसिक कष्टों को भी उत्साह के सहयोग से ही मानव ने सहन किया है। इसी उपयोगिता का अनुभव करके शुक्लजी उत्साह की गिनती सद्गुणों में करना चाहते हैं। इसीलिए वे परपीड़न डकैती आदि अकर्तव्य कर्मों के सम्पादन में आनन्दपूर्ण उमंग को उत्साह नहीं कहना चाहते वह ऐसे साहस और आनन्द के योग को भिन्न स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—

"आत्म रक्षा पर-रक्षा देश रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है उसके सौन्दर्य को परपीड़न डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता।

श्रद्धा—सुखमूलक मनोविकारों में श्रद्धा का भी निरूपण किया जाता है। शुक्लजी ने श्रद्धा की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से की है—

"किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण या शक्ति का विकास देखकर उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ पूज्य बुद्धि का संचार है।" श्रद्धा मानव-हृदय में आनन्दपूर्ण कृतज्ञता है और यह एक ऐसी वस्तु है जिसे मानव अपनी न्याय-बुद्धि की तुला से तोल कर सद्धर्म व गुण-कर्म आदि की अनुपात से धारण करता है। यह एक प्रकार का मूल्य है जो कि हम किसी के सद्गुणों या सत्कर्मों के बदले में देते हैं।

इस प्रकार शुक्लजी श्रद्धा के अवयवों में आदरभाव कृतज्ञता मह
स्वीकृति और आनन्द का प्रतिपादन करते हैं। जो व्यक्ति अन्य के प्र
पूज्य बुद्धि नहीं रख सकता अन्य के उपकारों के बदले में अपने हृदय
कोमलता एवं सद्भाव नहीं ला सकता और जो अन्य के महत्त्व को स्वीका
नहीं कर सकता उसके हृदय में श्रद्धा का संचार नहीं हो सकता है।

श्रद्धा के तीन विषय हो सकते हैं। हम किसी की सहज प्रतिभा को
देखकर उसके प्रति पूज्य-बुद्धि धारण करके विशेष आनन्द की अनुभूति कर
सकते हैं। इस प्रतिभा के दर्शन कलाकृतियों में वैज्ञानिक आविष्कारों में
तथा अन्यान्य क्षेत्रों में प्रदर्शित सफलताओं में कर सकते हैं। श्रद्धा का
दूसरा विषय शील एवं सदाचरण है। हम सदाचारी के प्रति भी श्रद्धा रख
सकते हैं। इस स्थिति में हम उसके कर्म सौन्दर्य से प्रभावित होकर उसके
महत्त्व को आनन्द सहित स्वीकार कर लेते हैं और उसे यह निश्चय करवाते
कि उसके कर्म मानव-समाज के लिए सर्वथा हितकर हैं। श्रद्धा का
सरा विषय साधन-सम्पत्ति है। हम किसी की साधन-सम्पन्नता से भी
भावित हो सकते हैं और उसके प्रति आनन्दपूर्ण आदरभाव रख सकते हैं।
; कोई व्यक्ति सहज प्रतिभा के अभाव होने पर भी निरन्तर अभ्यास
: साहित्य-संगीत आदि कलाओं में ज्ञान विज्ञान में शारीरिक शक्ति
में सफलता प्राप्त कर लेता है तो वह भी हमारे इस भाव का विषय
बन जाता है। भले ही वह इस साधन-सम्पन्नता का दुरुपयोग भी करे
उसके प्रति आदर भाव रह सकता है। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो श्रद्धा होती
है वह साधन-सम्पन्नता पर होती है साध्य की पूर्णता पर नहीं अर्थात् हम
उसके अभ्यास-श्रम और बारीकी से ही प्रभावित होते हैं मानव-हृदय पर
प्रभाव डालने वाले कलासौन्दर्य का विचार हम इस स्थिति में नहीं करते।

शुक्लजी श्रद्धा के इन तीनों विषयों में से शील सम्बन्धिनी श्रद्धा को
ही उत्तम समझते हैं। वे लिखते हैं—

"शील क्षमा और साधन-सम्पत्ति-श्रद्धा के इन तीनों विषयों में से
जिसका ध्यान मनुष्य को पहले होना चाहिए और जिसका पीछे। इसका

बेखटक यही उत्तर दिया जा सकता है कि जन-साधारण के लिए शील का ही सबसे पहले ध्यान होना स्वाभाविक है क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य मात्र की सामान्य-स्थिति रक्षा से है।

अन्य मनोविकारों से श्रद्धा का अन्तर भी शुक्लजी ने स्पष्ट किया है। किसी के प्रति श्रद्धा करते समय हमारे सामने उसका सहज व्यक्तित्व मात्र नहीं रहता उसके कर्म विशेष रूप से श्रद्धा के उपादान बन जाते हैं। इसके विपरीत प्रेम का आधार केवल प्रिय का शरीर या व्यक्तित्व हो सकता है अर्थात् हम उसके ऐसे गुणों से रीझ सकते हैं जिनमें उसका अपना कोई हाथ नहीं होता है। इसके अतिरिक्त प्रेम का कारण प्रायः अनिर्दिष्ट तथा अज्ञात रहता है पर श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। शुक्लजी के शब्दों में "श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि पर जाती है। एक में व्यक्ति के कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरी में कर्मों को व्यक्ति द्वारा। एक में कर्म प्रधान है, दूसरी में व्यक्ति।"

प्रेम एक प्रकार से वैयक्तिक भाव है। इसमें घनत्व है विस्तार नहीं। प्रेमी प्रिय के जीवन को अपने जीवन से मिलाकर एक कर लेना चाहता है, वह उसके हृदय पर एकमात्र अपना अधिकार कर लेना चाहता है। इस प्रकार प्रेम का विस्तार-क्षेत्र सर्वथा एकान्त है। इसके विपरीत श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, उसका व्यापार-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। श्रद्धावान् अपनी श्रद्धा के बदले में श्रद्धेय से अपने लिए कुछ नहीं चाहता है क्योंकि श्रद्धा ऐसे कर्मों के कारण ही होती है जिनका शुभ प्रभाव अकेले श्रद्धावान् पर नहीं अपितु सारे मानव-समाज पर पड़ सकता है, अतः श्रद्धावान् की यह श्रद्धा एक प्रकार से मानव-समाज की ही प्रतिक्रिया समझी जा सकती है। श्रद्धा की इस सामाजिकता का उल्लेख शुक्लजी ने इस प्रकार किया है—"श्रद्धा की सामाजिक विशेषता एक इसी बात से समझ लीजिए कि जिस पर हम श्रद्धा रखते हैं उस पर चाहते हैं कि और लोग भी श्रद्धा रखें पर जिस पर हमारा प्रेम होता है उससे और दस-पाँच आदमी प्रेम रख—

इसकी हमें परवा क्या इच्छा ही नहीं होती क्योंकि हम प्रिय पर सामयच एक प्रकार का अनन्य अधिकार या इजारा चाहते हैं। श्रद्धालु अपने भाव में संसार को भी सम्मिलित करना चाहता है पर प्रेमी नहीं।"

श्रद्धा एक प्रकार से आनन्दपूर्ण कृतज्ञता ही है। कृतज्ञता और श्रद्धा में एक सूक्ष्म अन्तर होता है। अपने साथ या किसी विशेष मनुष्य के साथ किए जाने वाले व्यवहार के लिए जो कृतज्ञता होगी वह श्रद्धा नहीं हो सकती। श्रद्धा की दृष्टि सामान्य की ओर रहती है विशेष की ओर नहीं। यही सामान्य दृष्टि श्रद्धा को कृतज्ञता से भिन्न कर देती है। श्रद्धा और दया में भी अन्तर है। श्रद्धा सामर्थ्य के प्रति होती है और दया असामर्थ्य के प्रति।

श्रद्धा की उपयोगिता पर भी तुलसीजी की दृष्टि गई है। सर्वप्रथम श्रद्धा द्वारा मानव के कर्मों का मूल्यांकन किया जा सकता है। जिन कर्मों के प्रति मानव-मन में आनन्दपूर्ण आदरभाव की सृष्टि हो जायगी। मानव उन कर्मों की सदा अभिलाषा करता रहेगा। वे उसके लिए महत्त्वपूर्ण हो जाएँगे। इस प्रकार श्रद्धा एक प्रकार से शुभाशुभ कर्मों के निर्धारण में एक स्वत: सिद्ध प्रमाण ठहर जाती है। तुलसी के शब्दों में श्रद्धा धर्म की पहली सीढ़ी है। इसके द्वारा ही मानव यह आनन्दपूर्वक स्वीकार कर लेता है कि धर्म के अमुक अमुक दृष्टान्त धर्म के हैं।

श्रद्धा मानव जीवन की कठिनाइयों को सरल बना देती है, उसकी उलझनों को सुलझा देती है। दूसरों की श्रद्धा संसार में एक अत्यन्त वाञ्छनीय वस्तु है। इसके द्वारा मानव समाज का मंगल साधन होता है। प्रत्येक अपनी उदात्त चरित्र से अपने चारों ओर मंगल-सृष्टि करना चाहता है। श्रद्धालु अपनी श्रद्धा द्वारा उसे इस मंगल विधान की सूचना देता है। श्रद्धालु की इस सूचना से श्रद्धेय को अपनी सामर्थ्य का बोध हो जाता है और उसमें उन सदाचरणों के करने में उत्साह की वृद्धि होती रहती है फलत: मानव-समाज में मंगलश्री बढ़ती रहती है। श्रद्धा की उपयोगिता अन्य पक्ष में देखी जा सकती है। श्रद्धेय यदि अपने सदाचरणों से मानव-मून का

विश्वास करता है तो श्रद्धालु भी अपनी श्रद्धा से उसके तथा अपने समाज के सुख का विधान कर देता है। यही कारण है कि शुक्लजी श्रद्धा-धारण को मानव का परम कर्त्तव्य स्वीकार करते हैं। उनकी धारणा है कि "सदाचारी के प्रति यदि हम श्रद्धा नहीं रखते तो समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते। यदि किसी को दूसरों के कल्याण के लिए भारी स्वार्थ त्याग करते देख हमारे मुँह से 'धन्य धन्य' भी न निकला तो हम समाज के किसी काम के न ठहरे, समाज को हमसे कोई आशा नहीं हम समाज में रहने योग्य नहीं।

भक्ति—शुक्लजी भक्ति को भी मानव की रागात्मिका वृत्ति स्वीकार करते हैं अर्थात् भक्ति भी मानव-हृदय का भाव या विकार है। उसे भी मूलतत्त्व में ही परिगणित किया जा सकता है। उनकी धारणा के अनुसार इस भाव विशेष की उत्पत्ति श्रद्धा और प्रेम के योग से होती है। इसका संघटन उस दश अवस्था में होता है जो श्रद्धा और प्रेम में रहते हैं। उनकी भक्ति की परिभाषा तथा व्याख्या इसी बात का समर्थन करती है। वे कहते हैं—

"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्यभाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति हो उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। जब श्रद्धेय के दर्शन श्रवण कीर्तन ध्यान आदि में आनन्द का अनुभव होने लगे—जब उससे सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे तब भक्ति-रस का संचार समझना चाहिए।

किसी के प्रति पूज्यभावना की वृद्धि में उसके सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति में उसकी सत्ता के विविध रूपों के साक्षात्कार की वासना से उसके सम्मुख अपनी दीनता-लघुता की स्वीकृति में उसके प्रति अपने जीवन सर्वस्व को समर्पित करने की कामना में उससे कुछ पाने की इच्छा में मानव-हृदय में एक विलक्षण मनोविकार की अनुभूति होने लगती है उसे

ही भक्ति कहा जाता है। ये सब तथ्य ही भक्ति के विधायक अंग माने जा सकते हैं। भक्ति के क्षेत्र तथा विषय के सम्बन्ध में शुक्लजी कहते हैं कि— भक्ति हृदय से ही की जाती है। जहाँ श्रद्धा प्रेम का संयोग होता है। बुद्धि से भक्ति करना नाक से खाना और कान से सूंघना है। सामान्यतः भक्ति का विषय भी मानव ही हो सकता है। मानव हितकारी उदात्त गुणों तथा कर्म समूहों को किसी अपने जैसे शरीरधारी अन्य मानव में देखकर मानव स्वयं उसके प्रति सर्वप्रथम श्रद्धा करने लगता है और धीरे-धीरे उसके हृदय में अपने श्रद्धेय के प्रति प्रेम भावना उत्पन्न होने लगती है। इस प्रकार वही मानव उसकी भक्ति का भी भाजन बन जाता है। अब वह केवल श्रद्धावान् या केवल प्रेमी ही नहीं रहता वह भक्त बन जाता है। श्रद्धा और प्रेम दोनों मिलकर उसे नया रूप प्रदान कर देते हैं। श्रद्धा की प्रेरणा से वह उसकी महत्ता को स्वीकार कर लेता है, वह उसके प्रति पूज्य बुद्धि धारण कर लेता है, वह उसकी स्तुति-प्रशंसा करके आत्म-तुष्टि की अनुभूति करता है परन्तु प्रेम उसमें सान्निध्य प्राप्त करने की उमंग आतुरता उत्पन्न कर देता है। अब वह उसके महत्त्व की ओर अग्रसर होता है वह उसके प्रति अपनी दीनता की चर्चा करता है। उसके जीवन में इस दीनता-स्वीकृति से इतनी प्रबलता उत्पन्न हो जाती है कि उसका अपना आपा ही विलीन हो जाता है। वह अपनी इस तल्लीनता के प्रभाव से अपना जीवन-सर्वस्व ही उसे सौंपने को उद्यत हो जाता है। इसी झोंक में वह उससे याचना-विनय भी करता है। इस प्रकार वह महापुरुष उसकी भक्ति का आलम्बन बन जाता है। भगवान् की भक्ति का विषय प्रसिद्ध है। शुक्लजी ने भगवद् भक्ति की चर्चा की है परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि भगवान् की भक्ति उसी अवस्था में हो सकती है जब कि हम उसे ऐसा स्वरूप दे सकें जो श्रद्धा और प्रेम का विषय बन सके। भगवान का ऐसा स्वरूप जो इन दोनों भावों का आलम्बन नहीं बन सकता भक्ति का भी आलम्बन नहीं बन सकता है। 'तुलसी की भक्ति पद्धति' शीर्षक लेख की ये पंक्तियाँ प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं—

'इसी जगत् के बीच भासित होता स्वरूप ही प्रेम या भक्ति का आलम्बन हो सकता है। इस जगत् से सर्वथा असम्बद्ध किसी अव्यक्त सत्ता से प्रेम करना मनोविज्ञान के अनुसार सर्वथा असम्भव है। भक्ति केवल ज्ञाता या द्रष्टा के रूप में ही ईश्वर की भावना लेकर सन्तुष्ट नहीं हो सकती। वह ज्ञानपक्ष और भावपक्ष दोनों को लेकर चलती है।"

शाण्डिल्य सूत्र में भक्ति का लक्षण—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वर में परानुरक्ति ही भक्ति है। यदि इस लक्षण को स्वीकार किया जाए तो हम ईश्वर को ऐसा स्वरूप प्रदान करना होगा जो मानव-मन का विषय बन सके। शुक्लजी ने भगवद्भक्ति का प्रतिपादन करते हुए इसी तथ्य को अपने समक्ष रखा है। वे कहते हैं कि जिन गुणों को किसी मनुष्य में देखकर हम उसके प्रति श्रद्धा करने लगते हैं उन्हीं गुणों की ईश्वर में प्रतिष्ठा करके हम अपने हृदय में भक्ति का सञ्चार कर सकते हैं। यही कारण है कि मानव ने महापुरुषों में मङ्गलविधायक गुणों की अतिशयता देखकर उन्हें ही भगवान् का अवतार अर्थात् भगवान् का प्रतिरूप स्वीकार कर लिया है और उन्हीं के प्रति अपनी भक्ति भावना का प्रकाशन किया है। उदाहरण स्वरूप राम कृष्ण आदि अवतारों को लिया जा सकता है। इन अवतारों में परमात्मा की विशेष कलाओं के दर्शन करके भक्त हृदय उनके गुणगान कीर्तन में अर्चन वन्दन सेवन में आनन्दपूर्ण हृदय से प्रवृत्त होता है। कभी उनके प्रति दास्यभाव कभी सख्य भाव और कभी आत्म निवेदन प्रकट करने लगता है। भगवद्भक्ति का अस्तित्व इसी रूप में सम्भव हो सकता है।

शुक्लजी की दृष्टि में ज्ञान-कर्म समन्वित भक्ति ही प्रशस्त भक्ति है। उनका यह सिद्धान्त वाक्य है कि ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भक्ति होती है। जहाँ तक हम ईश्वर को जान पाते हैं वहीं तक उसकी भक्ति कर सकते हैं। कोरे ज्ञान से मानव भक्त नहीं कहला सकता है। यदि कोई भगवान् के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उससे तटस्थ रहता है तो वह भक्त नहीं हो सकता है। उसके ज्ञान की सार्थकता भक्ति में ही है। यदि वह अपने जाने हुए स्वरूप में हृदय से लीन होने लगता है उस स्वरूप को

वासी एक-एक बात पर मुग्ध होता चलता है तो उसका ज्ञान हृदय का योग पाकर रसात्मक अनुभूति का रूप धारण कर लेता है। ज्ञान की यही रसात्मक अनुभूति भक्ति कहला सकती है। उनका यह अटल विश्वास है कि भक्ति का प्रारम्भ ही ज्ञानपूर्वक होता है। जिस भक्ति में ज्ञान या चैतन्य का अभाव हो और उसके स्थान पर भ्रम का प्रभाव मात्र रह जाए वह दूषित एवं विकलांग भक्ति है।

ज्ञान के समान कर्म भी प्रशस्त भक्ति का अंग है। कर्म से शुक्लजी का अभिप्राय धर्मशून्य बाह्य विधि विधानों तीर्थाटन पर्वस्नान तिलक-माला धारण मन्त्र जाप आदि कर्मों से नहीं है। उनकी दृष्टि में आत्म-कल्याण और लोक कल्याण-विधायक कर्म ही सच्चे कर्म हैं। इन सच्चे कर्मों से शून्य भक्ति दूषित हो जायगी। अपनी इस धारणा का समर्थन वे गीता के इस उपदेश से करते हैं कि जानते चलो भक्ति करते चलो और कर्म करते चलो। उन्हें भक्ति की स्वाभाविक सीधी एवं सरल प्रक्रिया ही मान्य है। इसीलिए वे कहते हैं—

"कल्पना या भावना जिससे विराट का भीतरी साक्षात्कार होता है और भाव या रागात्मिकावृत्ति जिससे आत्मानुभूति होती है दोनों मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। बस इन्हीं दो स्वाभाविक वृत्तियों के सहारे भक्ति रस की निष्पत्ति हो जाती है। इसके सीधे-सादे विधान में न इड़ा पिंगला नाड़ियाँ हैं, न सहस्रार चक्र न ब्रह्मरन्ध्र न आसन और न प्राणायाम।

यही कारण है कि उन्होंने अन्तस्साधना गुह्य-रहस्य भावना मन्त्र-तंत्र और चमत्कारों अलौकिक सिद्धियों के प्रति अपनी अनास्था प्रकट की है। वज्रयानी सिद्धों और नाथ पंथियों के द्वारा अवमूल्य बाह्य विधि विधान तीर्थाटन आदि की निन्दा को वे उचित समझते हैं परन्तु लोक कल्याण विधायक कर्मों की अवहेलना तथा अन्तस्साधना का उपदेश उन्हें प्रिय नहीं। भक्ति सम्बन्धी लेखों में सर्वत्र उनकी भक्ति के स्वरूप की निन्दा ही शुक्लजी ने की है। उनकी दृष्टि में इन पंथों ने हृदयपक्ष शून्य सामान्य अन्तस्साधना-मार्ग निकालने यत्न का किया था। इस प्रकार वे निर्गुण-

"इसी जगत् के बीच भासित होता स्वरूप ही प्रेम या भक्ति का आलम्बन हो सकता है। इस जगत् से सर्वथा असम्बद्ध किसी अव्यक्त सत्ता से प्रेम करना मनोविज्ञान के अनुसार सर्वथा असम्भव है। भक्ति केवल ज्ञाता या द्रष्टा के रूप में ही ईश्वर की भावना लेकर सन्तुष्ट नहीं हो सकती। वह ज्ञातृपक्ष और अव्यक्त दोनों को लेकर चलती है।"

शाण्डिल्य सूत्र में भक्ति का लक्षण—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वर में परानुरक्ति ही भक्ति है। यदि इस लक्षण को स्वीकार किया जाए तो हमें ईश्वर को ऐसा स्वरूप प्रदान करना होगा जो मानव-मन का विषय बन सके। शुक्लजी ने भगवद्भक्ति का प्रतिपादन करते हुए इसी तथ्य को अपने समक्ष रखा है। वे कहते हैं कि जिन गुणों को किसी मनुष्य में देखकर हम उनके प्रति श्रद्धा करने लगते हैं उन्हीं गुणों की ईश्वर में प्रतिष्ठा करके हम अपने हृदय में भक्ति का संचार कर सकते हैं। यही कारण है कि मानव ने महापुरुषों में श्रद्धाविधायक गुणों की अतिशयता देखकर उन्हें ही भगवान् का अवतार अर्थात् भगवान् का प्रतिरूप स्वीकार कर लिया है और उन्हीं के प्रति अपनी भक्ति भावना का प्रकाशन किया है। उदाहरण स्वरूप राम कृष्ण आदि अवतारों को लिया जा सकता है। इन अवतारों में परमात्मा की विभिन्न कलाओं के दर्शन करके भक्त हृदय उनके गुणगान कीर्तन अर्चन वन्दन सेवन में आनन्दपूर्ण हृदय से प्रवृत्त होता है। कभी उनके प्रति दास्यभाव कभी सख्य भाव और कभी आत्म निवेदन प्रकट करने लगता है। भगवद्भक्ति का अस्तित्व इसी रूप में सम्भव हो सकता है।

शुक्लजी की दृष्टि में ज्ञान-कर्म समन्वित भक्ति ही प्रशस्त भक्ति है। उनका यह सिद्धान्त वाक्य है कि ज्ञान प्रसार के भीतर ही भक्ति होती है। जहाँ तक हम ईश्वर को जान पाते हैं वहीं तक उसकी भक्ति कर सकते हैं। कोरे ज्ञान से मानव भक्त नहीं कहला सकता है। यदि कोई भगवान् के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके उसमें तटस्थ रहता है तो वह भक्त नहीं हो सकता है। उसके ज्ञान की सार्थकता भक्ति में ही है। यदि वह अपने जाने हुए स्वरूप में हृदय से लीन होने लगता है उस स्वरूप को सामने करने

भावी एक-एक भाव पर मुग्ध होता चलता है तो उसका ज्ञान हृदय का योग पाकर रसात्मक अनुभूति का रूप धारण कर लेता है। ज्ञान की यही रसात्मक अनुभूति भक्ति कहला सकती है। उनका यह अटल विश्वास है कि भक्ति का प्रारम्भ ही ज्ञानपूर्वक होता है। जिस भक्ति में ज्ञान या चैतन्य का अभाव हो और उसके स्थान पर भ्रम का उन्माद भाव रह जाए वह दूषित एवं विकलांग भक्ति है।

ज्ञान के समान कर्म भी प्रशस्त भक्ति का अंग है। कर्म से गुप्तजी का अभिप्राय अर्थशून्य बाह्य विधि विधानों कीर्तन पर्वस्नान तिलक-माला धारण मंत्र जाप आदि कर्मों से नहीं है। उनकी दृष्टि में आत्म-कल्याण और लोक कल्याण-विधायक कर्म ही सच्चे कर्म हैं। इन सच्चे कर्मों से शून्य भक्ति दूषित हो जाएगी। अपनी इस धारणा का समर्थन वे गीता के इस उपदेश से करते हैं कि ज्ञान से चलो भक्ति करते चलो और कर्म करते चलो। उन्हें भक्ति की स्वाभाविक सीधी एवं सरल प्रक्रिया ही मान्य है। इसीलिए वे कहते हैं—

'कल्पना या भावना जिसमें विज्ञान का भीतरी साक्षात्कार होता है और भाव या रागात्मिकावृत्ति जिसमें आनन्दानुभूति होती है दोनों मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। बस इन्हीं दो स्वाभाविक वृत्तियों के सहारे भक्ति रस की निष्पत्ति हो जाती है। इसके सीधे-सादे विधान में न इड़ा पिंगला नाड़ियाँ हैं, न सहस्रार चक्र न ब्रह्मरन्ध्र न आसन और न प्राणायाम।

यही कारण है कि उन्होंने अन्तस्साधना गुह्य रहस्य भावना मंत्र-तंत्र और उपचारों अलौकिक सिद्धियों के प्रति अपनी अनास्था प्रकट की है। बस बानी सिद्धों और नाथ पंथियों के द्वारा अर्थशून्य बाहरी विधि विधान कीर्तन आदि की निन्दा को वे उचित समझते हैं परन्तु लोक कल्याण विधायक कर्मों की अवहेलना तथा अन्तस्साधना का उपदेश उन्हें प्रिय नहीं। भक्ति सम्बन्धी लेखों में अनेक उनकी भक्ति के स्वरूप की निन्दा ही गुप्तजी ने की है। उनकी दृष्टि में इन पंथों ने हृदयपक्ष शून्य सामान्य अन्तस्साधना-मार्ग निकालने अन्य का लिया था। इन अभाव को सिद्ध क-

पंथ के कबीर आदि सन्तों ने अनुभव किया फलतः उन्होंने प्रचलित सन्त-उपासना भक्ति में रागात्मिका भक्ति और ज्ञान का योग किया परन्तु उसमें कर्म की अवहेलना से भक्ति का विमल सर्वांगपूर्ण स्वरूप निर्गुण-पंथ में भी प्रकट नहीं हो सका। निर्गुण भक्ति में निराकार ब्रह्म को भक्ति का विषय बताया गया था। शुक्लजी की धारणा के अनुसार सगुण-साकार ब्रह्म ही भक्ति-प्रेम का विषय बन सकता है अतएव कबीर आदि की भक्ति भी उनकी दृष्टि में प्रशस्त स्वरूप नहीं हुई। सगुण भक्ति सम्प्रदायों में राम भक्ति और कृष्ण भक्ति मिलती है। कृष्ण भक्ति में भक्ति के दो प्रधान अवयवों में से केवल एक प्रेम को ग्रहण किया गया श्रद्धा को छोड़ दिया गया अर्थात् लोकरक्षक एवं लोक कल्याणकारी कर्मों की उपेक्षा कर दी गई। अतएव शुक्लजी की चेतना भक्ति के इस स्वरूप की भी प्रशंसा न कर सकी। भक्ति का सर्वांगपूर्ण एवं निर्मल स्वरूप राम भक्ति में ही उन्हें दृष्टिगोचर हुआ है। उनकी भक्ति सम्बन्धी धारणा का उदाहरण तुलसी की राम भक्ति ही है। 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में उनकी ये पंक्तियाँ प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं—

"कबीर का ज्ञानपक्ष तो रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत मिलेगा पर सूफियों से जो प्रेम तत्त्व उन्होंने लिया वह तत्त्व सूफियों के यहाँ चाहे काम वासना ग्रस्त हुआ हो पर निर्गुण पंथ में वह अविकृत रहा। यह निस्सन्देह प्रशंसा की बात है। वैष्णवों की कृष्ण भक्ति शाखा ने केवल प्रेम लक्षणा भक्ति ली फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई। राम भक्ति शाखा में भक्ति सर्वांगपूर्ण रही वह इससे विकृत न होने पाई। तुलसी की भक्ति पद्धति में कर्म धर्म और ज्ञान का पूरा सामंजस्य और समन्वय रहा है।

शुक्लजी ने भक्ति को एक सामाजिक भाव स्वीकार किया है और इसे मानव-जीवन की विकास अभिव्यक्ति में परोक्ष रूप से व्यापक वर्णित किया है। वे 'श्रद्धा भक्ति' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं—

"भक्ति के सामाजिक महत्त्व को इसकी लोकहितकारिणी शक्ति

को स्वीकार करने में किसी को आगा-पीछा नहीं हो सकता। सामाजिक महत्त्व के लिए आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित हो। जैसे इस आकर्षण-विधान के बिना अणुओं द्वारा व्यक्त पिण्डों का आविर्भाव नहीं हो सकता वैसे ही मानव-जीवन की विशद अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती।" यही आकर्षण-विधान भक्ति द्वारा सम्पन्न हो सकता है। यही कारण है कि संसार के बड़े-बड़े महात्मा अपने आचरण द्वारा दूसरों को आकर्षित करके उनमें अपने प्रति भक्ति भावना उत्पन्न करके मानव समाज के कल्याण साधन में समर्थ हुए हैं। जब किसी समाज में ऐसे भक्ति भाजन महापुरुष का अवतार होता है तब जनसाधारण के लिए उस महापुरुष का आश्रय पाकर महत्त्व प्राप्ति सुगम हो जाती है। भक्ति भावना दुष्कर उच्च-पथ को सुकर बना देती है। भक्त स्वयं ही अनजाने ही उस उच्च-पथ का अनुसरण करने लगता है। भक्ति की इस उपयोगिता का कथन शुक्लजी ने इस प्रकार किया है— "भक्ति में किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हमारी महत्त्व के अनुकूल गति का प्रसार और प्रतिकूल गति का संकोच होता है। इस प्रकार का सामीप्य-लाभ करके हम अपने ऊपर पहरा बिठा देते हैं—अपने को ऐसे स्वच्छ आदर्श के सामने कर देते हैं जिसमें हमारे कर्मों का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक दिखाई पड़ता है।"

भक्ति एक प्रकार की प्रवृत्ति-विधायिनी शक्ति है। यह केवल व्यक्ति मात्र एकान्त साधना के रूप में नहीं है व्यवहार क्षेत्र के भीतर लोकमंगल की प्रेरणा करने वाली है। अपने मंगल और लोक के मंगल का संगम भक्ति के भीतर दिखाई पड़ता है। इस भाव के संचार से मानव में जीवन-धारण की अभिलाषा जागती है। निराशा का अन्धकार कभी उसके पथ में प्रतिरोध उत्पन्न नहीं करता है। हृदय की सरसता सम्पूर्ण जीवन को सरस बनाकर सौन्दर्यपूर्ण एवं आकर्षक बना देती है। अतएव यह भक्ति भाव मानव जीवन के सर्वांगपूर्ण विकास में सहायक होने के कारण परम उपादेय माना जा सकता है।

दुःखवर्ग भय—दुःखवर्ग के मनोविकारों में भय करुणा भाव सम्मा

घृणा तथा ईर्ष्या का विश्लेषण शुक्लजी के निबन्धों में मिलता है। इनमें से भय का लक्षण उन्होंने इन शब्दों में दिया है—

'किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तम्भ कारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं।'

भय के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि मानव के सम्मुख ऐसी स्थिति उपस्थित हो जिससे दुःख उत्पन्न होने की सम्भावना हो। दुःख के कारण के प्रत्यक्ष होते ही मानव में अपनी अक्षमता के कारण एक प्रकार का उद्वेग उत्पन्न होता है जो कि उसे दुःखदायक परिस्थिति की पहुँच से बाहर होने की प्रेरणा देता है। यही उद्वेग वृत्ति भय कहलाती है। इस प्रकार भय के मनोरंजक प्रसंगों में दुःखजनक परिस्थिति से उत्पन्न संघर्ष सहने की अक्षमता को और अपनी शक्ति के अविश्वास को परिलक्षित किया जा सकता है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भय का आलम्बन दुःख का कारण है। शुक्लजी ने इस आलम्बन के दो रूप वर्णित किये हैं—असाध्य रूप और साध्य रूप। असाध्य आलम्बन या विषय वह है जिसका किसी प्रयत्न द्वारा निवारण असम्भव हो या असम्भव समझ पड़े। साध्य विषय वह है जो प्रयत्न द्वारा दूर किया या रोका जा सके। भय की दशा के मूल में दो विशेषताओं का उल्लेख भी उन्होंने किया है। परिस्थिति की विशेषता के कारण या मनुष्य की सहज प्रकृति की विशेषता के कारण भय का आलम्बन साध्य या असाध्य रूप को प्राप्त कर लेता है। कई बार मनुष्य अपनी अक्षमता के भाव से तथा अपनी शक्ति पर भरोसा न होने के कारण उपेक्षा के कारण की अनिवार्यता मानने लगता है और भय वृत्ति की पकड़ में पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में मानव की भयभावना को सूचित करने वाले चिह्न—शरीर का प्रकम्पन तथा स्तब्धता—प्रकट होने लगते हैं। यदि मानव को अपनी शक्ति पर भरोसा होता है अथवा प्रकृति से साहसी होता है तो उस दुःखोत्पादक परिस्थिति से बच कर भाग निकलने के लिए वह प्रयत्नशील हो जाता है। इस समय पलायन आदि

व्यापार भय के द्योतक हो जाते हैं।

भय के आश्रय की चर्चा भी शुक्लजी ने की है। प्रत्येक प्राणी जीवन आँख के कुछ खुलते ही अपने सामने मानो एक दुःख-कारण-पूर्ण संसार फैला हुआ पाता है जिसे वह अज्ञान कुछ अपने ज्ञान बल से और कुछ बाहु बल से थोड़ा बहुत सुखमय बनाता चलता है। संसार के नाना रूपों से ज्यों-ज्यों उसका परिचय बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी बाधक सूझती जाती है। मानो वह अपने ज्ञान बल हृदय बल और शरीर बल के परिचय से विश्व में परिव्याप्त दुःख की छाया को हटाना चाहता है। शुक्लजी ने अपने इसी जीवन दर्शन के आधार पर भय के अवयवों का परिगणन किया है। वे कहते हैं कि जंगली और असभ्य जातियों में भय अधिक होता है। उनके देवी-देवता भय के प्रभाव से ही कल्पित होते हैं किसी आपत्ति या दुःख से बचे रहने के लिए ही अधिकतर वे उनकी पूजा करते हैं। इस प्रकार भय और असभ्यता का गहरा सम्बन्ध शुक्लजी स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि अतिभय और भयकारक का सम्मान असभ्यता के लक्षण हैं।

भय का दूसरा आश्रय अशिक्षित मानव है। वे ऐसा अनुभव करते हैं कि अशिक्षित होने के कारण अधिकांश भारतवासी भी भय के उपासक हो गए हैं। बच्चों को दुःख परिहार का ज्ञान या बल नहीं होता अतएव बच्चे भी भय के आश्रय मान जाते हैं। इन्हीं कारणों से पशुओं में भी भय की मात्रा अधिकता से पाई जाती है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि सभ्य एवं प्रौढ़ जन में भय की मात्रा नहीं होती। उसका कारण तथा स्वरूप भिन्न अवश्य हो जाता है। सभ्यता तथा शिक्षा के विकास व विस्तार के अनुपात में मानव के भय पर्याप्त कम हो गए हैं। सभ्य मानवों को भूतों का भय नहीं रहा पशुओं के भय से भी मुक्ति मिल रही है परन्तु मनुष्य के लिए मनुष्य का भय अभी तक बना हुआ है। सभ्यता ने मनुष्य के व्यापारों को इतना जटिल बना दिया है कि उसके दुःख के कारण भी गूढ़ और जटिल हो गए हैं। अब यही गूढ़ जटिल व्यापार भय के अनेक रूप ला रहे हैं। सामान्यतः लोग धर्म भय की प्रशंसा करते हैं परन्तु शुक्लजी की दृष्टि में भयमात्र एक दुर्गुण ही है

यह प्रशंसनीय नहीं है। उनकी धारणा है कि धर्म से डरने वाले भी प्रशंसनीय नहीं हैं प्रशंसनीय तो वे हैं जो धर्म की ओर आकर्षित होते हैं, वे निर्भयता को ही उत्तम समझते हैं परन्तु यह निर्भयता सत्साध्य ही होती है। निर्भयता—सम्पादन के लिए वे दो बातें परमावश्यक मानते हैं—उत्कृष्ट शील और पुरुषार्थ सम्पन्न शक्ति। इन्हीं दोनों गुणों के कारण भयजनक परिस्थितियों का नाश हो सकता है। शील के होने पर दूसरों को हमसे किसी प्रकार का भय या कष्ट न होगा और शक्ति के होने पर दूसरों को हम कष्ट या भय पहुँचाने का साहस न हो सकेगा। ऐसी स्थिति में ही निर्भयता सम्पादित की जा सकती है।

शुक्लजी ने भय का क्रोध से तथा उत्साह से अन्तर को भी स्पष्ट किया है। क्रोध दुःख के कारण के स्वरूप-बोध के बिना नहीं होता पर भय के लिए कारण का निर्दिष्ट होना जरूरी नहीं। इतना भर मालूम होना चाहिए कि दुःख या हानि पहुँचेगी। क्रोध दुःख के कारण पर प्रभाव डालने के लिए आकुल करता है और भय उसकी पहुँच से बाहर होने के लिए। उत्साह के समान भय के सामने भी कठिन स्थिति रहती है उत्साह के समान भय में भी प्रयत्न की मात्रा रहती है परन्तु उत्साह में कठिन स्थिति के निश्चय से साहस के योग से एक आनन्द मिश्रित वेग उत्पन्न होता है परन्तु भय में कठिन स्थिति के निश्चय से विषमता के योग से एक दुःखमिश्रित वेग उत्पन्न होता है। उत्साह में प्रयत्न का लक्ष्य कठिन स्थिति को दूर करना होता है परन्तु भय में प्रयत्न का लक्ष्य उस स्थिति से स्वयं दूर होना होता है। इस प्रकार भय मानव जीवन में बाधक स्वरूप उभरता है जो कर्म पथ से विचलित करता है इसकी उपयोगिता इसी रूप में है कि मानव भय-संचार द्वारा दुर्जनों आततायियों के प्रयत्न को रोकने में सफल हो सकता है। समाज की व्यवस्था में राज्य की सुव्यवस्था में भय से पर्याप्त उपयोग लिया जा सकता है। दण्ड का भय और अनुग्रह का लोभ दिखाते हुए राज्य शासन तथा नरक का भय और स्वर्ग का लोभ दिखाते हुए धर्म शासन चलते आ रहे हैं।

भय के प्रसंग में शुक्लजी ने भय के हलके रूप आशंका का भी उल्लेख

किया है। दुःख या आपत्ति का पूर्ण निश्चय न रहने पर उसकी सम्भावना मात्र के अनुमान से आवेग शून्य भय होता है उसे आशंका कहा जाता है। दुःखात्मक भावों में आशंका की वही स्थिति समझी जाती है जो सुखात्मक भावों में आशा की। आशंका भय का अपूर्ण रूप है।

करुणा —दुःख वर्ग में करुणा को परिगणित किया जाता है। दूसरों के दुःख के परिज्ञान से मानव हृदय में जो दुःख का वेग उत्पन्न होता है उसे करुणा कहा जाता है। करुणा का विषय दूसरे का दुःख है अपना दुःख नहीं। इस दुःख का कारण दूसरा व्यक्ति अज्ञात तथा ज्ञात प्रिय भी हो सकता है। करुणा का वेग व्यक्ति भेद से भिन्न-भिन्न मात्राओं में उत्पन्न होता है। अज्ञात व्यक्ति के दुःख को देखकर जो करुणा उत्पन्न होती है परन्तु ज्ञात व्यक्ति के दुःख से जो करुणा उत्पन्न होगी उसका वेग मात्रा में अपेक्षाकृत अधिक होगा। इसी प्रकार यदि कोई दुःखी व्यक्ति अपना प्रिय है तो उसके प्रति जो करुणा होगी वह मन में ज्ञात-अज्ञात व्यक्ति की अपेक्षा अधिक व्याकुलता उत्पन्न करेगी। अतः यह स्पष्ट है कि करुणा की तीव्रता सापेक्ष होती है। प्रिय से वियुक्त होने की स्थिति में जो दुःख होता है उसमें कभी कभी करुणा का भी कुछ अंश मिला रहता है। इस स्थिति में करुणा का विषय प्रिय का दुःख न होकर प्रिय के सुख का अनिश्चय है। जो करुणा साधारण-असाधारण ज्ञात-अज्ञात तथा प्रियजनों के वास्तविक दुःख के परिज्ञान से होती है वही करुणा मानव हृदय में अपने प्रियजनों के सुख के अनिश्चय मात्र से होती है।

करुणा की प्रवृत्ति क्रोध से विपरीत रूप में होती है। क्रोधी मानव क्रोध भाजन की हानि की चेष्टा करता है परन्तु करुणापूर्ण मानव करुणा-भाजन की भलाई की चेष्टा करता है इससे स्पष्ट है कि क्रोध की प्रवृत्ति हानि की ओर, करुणा की प्रवृत्ति भलाई की ओर रहती है। इस प्रकार भलाई की उत्तेजना सुख और दुःख दोनों वर्ग के मनोविकारों से हो जाती है। सुख के वर्ग में ऐसा कोई मनोविकार नहीं जो अपने विषय की हानि की चेष्टा करे, परन्तु दुःख की श्रेणी में करुणा ऐसा भाव है जो अपने पात्र की भलाई की

उत्तेजना करता है।

करुणा प्रयोज्य भाव है अर्थात् करुणा के बदले में करुणा उत्पन्न नहीं होती परन्तु श्रद्धा या प्रीति उत्पन्न होती है। करुणा की उपयोगिता को देखकर शुक्लजी ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। उनकी दृष्टि में मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता की संस्थापिका करुणा ही है। करुणा ऐसे कर्मों की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है जिनसे दूसरों के दुःख की निवृत्ति और सुख का साधन होता है। इसी कारण वे इसे एक सात्त्विक भाव मानते हैं। इसी से शील नामक सद्वृत्ति की उत्पत्ति होती है। दूसरों के सम्भाव्य दुःख का ध्यान या अनुमान करके मानव ऐसी बातों या आचरणों से बचने का प्रयत्न करता है जिनसे दूसरों को दुःख पहुँच सकता है। यही प्रयत्न शील वृत्ति का परिचायक है। लोक रक्षा के लिए इस गुण की उपयोगिता अनिवार्य है। मनुष्य के अन्तःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगाने वाली यही करुणा है। सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है, क्योंकि कर्मक्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी-न-किसी रूप में करुणा ही दिखाई देती है। शुक्ल जी पाश्चात्य समाज शास्त्रियों की भावना के अनुसार परस्पर साहाय्य के व्यापार को बुद्धिकृत नहीं मानते हैं। मानव यदि दूसरों के दुःख की निवृत्ति के लिए उनकी सहायता करता है तो वह विवेचना करके नहीं करता कि इसमें उसका अपना कल्याण होगा। निस्सन्देह दूसरों की सहायता करने में आत्मरक्षा एवं आत्मकल्याण की सम्भावना निश्चित रूप से विद्यमान रहती है। फिर भी यह निश्चित है कि संसार में एक-दूसरे की सहायता बुद्धि की प्रेरणा से नहीं अपितु मानव-मन की करुणा नामक वृत्ति की प्रेरणा से ही की जाती है। यही कारण है कि करुणा सदा असहाय असमर्थ तथा दुःखी लोगों के प्रति ही अधिकता से की जाती है। दुःखी व्यक्ति जितना ही असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी। शुक्लजी की धारणा के अनुसार परस्पर साहाय्य के व्यापक उद्देश्य के धारण करने वाला मनुष्य का छोटा-सा अन्तःकरण नहीं दिखलाता है।

विशेषतया अपने परिचितों के थोड़े क्लेश या शोक पर जो वेग रहित दुःख होता है उसे 'सहानुभूति' कहते हैं। शिष्टाचार के रूप में भी इस भाव का प्रयोग किया जा सकता है अतएव प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है। शुक्लजी इसे अप-शिष्टता के रूप में वर्णित करते हैं और यह कहते हैं कि यह मनुष्य के व्यवहार क्षेत्र से सच्चाई के अंश को क्रमशः चरती जा रही है।

क्रोध—मनोविकारों में क्रोध का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्रोध के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए शुक्लजी कहते हैं— "क्रोध दुःख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है।" दुःख के कारण की स्पष्ट धारणा के बिना क्रोध उत्पन्न नहीं हो सकता है। क्रोध का वेग बड़ा प्रबल होता है अतएव कभी-कभी मनुष्य दुःख देने वाले की इच्छा-अनिच्छा का भी विचार नहीं करता और क्रोध प्रकट होने लगता है। क्रोध का आलम्बन पीड़क होता है। क्रोध की उग्र चेष्टाओं का लक्ष्य सर्वप्रथम पीड़ा पहुँचाने वाले में भय का संचार करना होता है। हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति भय संचार के अभाव में ही प्रकट होती है। क्रोध में एक अन्धापन रहता है। क्रोध करने वाला दुःख देने वाले की ओर तो देखता है परन्तु अपनी ओर नहीं। इसीलिए कभी-कभी यह क्रोध करने वाले के लिए बड़ा अनर्थकारी सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त यदि दुःख के कारण के निर्धारण में किसी प्रकार की भूल हो जाती है तो भी क्रोध हानिकर ही सिद्ध होता है।

क्रोध दुःख के कारण पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्त करता है अतएव इसका आविर्भाव मानव-मन में शैशवकाल की अबोधावस्था में ही होने लगता है। यह अन्य सब मनोविकारों से फुर्तीला होता है अतएव यह अन्य कई मनोविकारों के साथ रहकर मानव-सृष्टि का विधायक बन जाता है। कभी यह दया के साथ कूदता है कभी घृणा के। क्रोध अन्य भाव है अर्थात् एक का क्रोध दूसरों में भी क्रोध का संचार करता है।

शुक्लजी ने क्रोध की उपयोगिता भी स्वीकार की है। वे कहते हैं कि सामाजिक जीवन में क्रोध की जरूरत बराबर पड़ती है। यदि क्रोध न हो

तो मनुष्य दूसरों के द्वारा पहुँचाए जाने वाले बहुत से कष्टों की चिर-निवृत्ति का उपाय ही न कर सके। इसकी अनुपयोगिता तभी स्पष्ट होती है जब कि यह अत्यन्त उग्र रूप में प्रकट होकर मानव-बुद्धि को कुण्ठित कर देता है मानव को अन्धा कर देता है। ऐसी स्थिति में मानव उचित-अनुचित का कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का परिस्थितियों के विवेक का अपनी सबलता नि मता का ध्यान ही दूर कर देता है। यदि कारण के यथार्थ निश्चय के उप रान्त अपने उद्देश्य को भली भाँति समझने के पश्चात् उचित एवं आवश्यक मात्रा में क्रोध का प्रदर्शन किया जाता है तो वह अत्यन्त उपयोगी मनोविकार सिद्ध होता है।

क्रोध के प्रशस्त रूप की चर्चा भी शुक्लजी ने की है। वे कहते हैं कि क्रोध के प्रेरक दो प्रकार के दुःख हो सकते हैं—अपना दुःख और पराया दुःख। अपने दुःख के कारण जो क्रोध उत्पन्न होगा वह क्रोध का निम्न एवं त्याज्य रूप होगा। इसके विपरीत जो दूसरे दुःख पर उत्पन्न होगा वह प्रशंसनीय कहलाएगा। शुक्लजी के शब्दों में लोकोत्तेजक दुःख जितना ही अपने सम्पर्क से दूर होगा उतना ही लोक में क्रोध का स्वरूप सुन्दर और मनोहर दिखाई देगा। दूसरे शब्दों में निर्विशेषता ही क्रोध में सौन्दर्य की सृष्टि कर देती है। ऐसा ही निर्विशेष क्रोध करुणा के आज्ञाकारी सेवक के रूप में हमारे सामने आता है। लोक-व्यापी अत्याचार तथा दमन को दूर करने के लिए जब क्रोध प्रचण्ड अग्नि के रूप में प्रकट होता है तब उसे सात्विक तेज कहा जाता है। ऐसा क्रोध अन्धा नहीं होता उसमें तामस धार नहीं होता है। ऐसा क्रोध तो धर्म क्रोध होता है। इस ऐसे ही क्रोध का एक विधान होता है अन्य राजदण्ड दूसरे शब्दों में राजक्रोध है। यही राज और अन्य है जिसमें लोक क्रोध एवं धर्मक्रोध मूलतः विद्यमान है।

क्रोध के कुछ अन्य रूप भी मानव-मन में उत्पन्न होते हैं। बैर क्रोध का ही एक रूपान्तर है। शुक्लजी इसे क्रोध का अचार या मुरब्बा कहते हैं। कष्ट पहुँचने के साथ ही दुःखदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा करने वाला मनोविकार क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर प्रेरणा करने वाला

भाव और है। क्रोध का एक सामान्य रूप प्रतिकार कहलाता है। जब किसी दुःख पहुँचाने वाले को कष्ट पहुँचाने का यत्न किया जाता है जिससे पुनः दुःख पहुँचने की सम्भावना नहीं होती तो यह व्यापार प्रतिकार कहलाता है। अधिकतर क्रोध इसी रूप में प्रकट होता है। प्रायः क्रोध में आत्मरक्षा की भावना रहती है परन्तु प्रतिकार रूप में स्वरक्षा की भावना का अभाव रहता है।

'अमर्ष' भी क्रोध का ही एक रूप है, परन्तु इसमें अन्य की बात की असह्यता से एक क्षोभ युक्त और आवेगपूर्ण अनुभूति मन में उत्पन्न होती है। क्रोध में दुःख पहुँचाने वाले को भयभीत या पीड़ित करने की प्रवृत्ति रहती है परन्तु अमर्ष की स्थिति में दुःख पहुँचाने वाली बात पर और उसकी असह्यता पर विशेष ध्यान रहता है।

क्रोध का एक हलका रूप 'चिड़चिड़ाहट' है। इसका कोई विशेष कारण नहीं होता है। यह एक प्रकार की मानसिक दुर्बलता है। शुक्लजी इसे विनोद की सामग्री के रूप में भी वर्णित करते हैं। वे कहते हैं—"इसका स्वरूप उग्र और भयंकर न होने से यह बड़ों के विशेषतः बालकों के—विनोद की एक सामग्री भी हो जाती है।

लज्जा—लज्जा भी दुःखमूलक मनोविकार है। दूसरों के चित्त में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है उसी को शुक्लजी लज्जा कहते हैं। इस प्रकार 'लज्जा' का कारण अपनी बुराई त्रुटि या दोष का हमारा अपना निश्चय नहीं दूसरे के निश्चय का निश्चय या अनुमान है जो हम बिना किसी प्रकार का प्रमाण पाए केवल अपने आचरण या परिस्थिति-विशेष पर दृष्टि रखकर ही कभी-कभी कर लिया करते हैं। 'लज्जा' के लिए यह आवश्यक नहीं कि हम अपने को दोषी समझें या दूसरा हमें दोषी या बुरा समझे। उसके लिए इतना ही आवश्यक है कि हम स्वयं यह समझने लग जाएँ कि दूसरा हमें बुरा या दोषी समझता है।

'लज्जा' का अनुभव एक प्रकार के दुःख का अनुभव है अतः इसकी

उपयोगिता बुराई से मनुष्य को दूर रखने में देखी जा सकती है। राजसी वृत्ति वाला लोकलाज के भय से अपने-आपको कुकर्मों से बचा सकता है। लज्जाधीन मानव बुराई को हृदय से निकाल नहीं सकता है केवल दूसरों की प्रत्यक्ष न लगनेवाला कर्म वह दूसरों की दृष्टि से दूर रखकर करना चाहता है। इस प्रकार वह दूसरों के हृदय में अपना की प्रतिष्ठा करके स्वयं अन्धकार में ही आगे बढ़ना चाहता है। दूसरों का भय उसे छिपने-छिपाने की प्रेरणा तो करता है परन्तु हृदय से कुप्रवृत्ति के संस्कारों को ही दूर करने के लिए उत्तेजित नहीं करता यह कार्य लज्जा का एक अन्य रूप 'ग्लानि' कर देती है। अपनी बुराई मूर्खता तुच्छता आदि का एकान्त अनुभव करने से वृत्ति में जो शैथिल्य आता है वह 'ग्लानि' का लक्षण है। 'ग्लानि' अन्तःकरण शुद्धि का एक प्राकृतिक विधान है। उसके अनुसार में अपने दोष अपराध तुच्छता बुराई इत्यादि का बोध निःसंकोच ध्यान कर देते हैं। इस अवस्था में दुराव या छिपाव की प्रवृत्ति नहीं रहती। यही कारण है कि दुष्प्रवृत्ति को दूर करने में 'लज्जा' की अपेक्षा 'ग्लानि' का अधिक महत्त्व है। शुक्लजी इसी बात का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

"दूसरों का भय हमें भगा सकता है हमारी बुराई को नहीं। दूसरों से हम भाग सकते हैं पर अपने से नहीं। जब अपने को हम अच्छे न लगने तब सिवा इसके कि हम अच्छे हों या अच्छे होने की आशा करें आत्मग्लानि से बचने का और कोई उपाय न रहेगा पर जिनके अन्तःकरण में अच्छे संस्कारों का बीज रहता है ग्लानि उन्हीं को होती है।"

यदि मनुष्य लज्जा के कारण किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता तो उसे दूसरों से निन्दा की आशंका रहती है। इस आशंका वृत्ति का ग्लानि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता अतएव ग्लानि की स्थिति में हम स्वयं अपने प्रति बुरी धारणा करने लगते हैं। इसी धारणा की निश्चयात्मक स्थिति में हमें दुष्कर्म से रोकने में सहायक हो जाती है। इसीलिए शुक्लजी 'ग्लानि' को 'लज्जा' का प्रशस्त रूप एवं मानव जीवन के लिए उसे उपयोगी स्वीकार करते हैं। वे सात्त्विक वृत्ति वाले उत्तम कोटि के मनुष्यों में ही इसकी

स्थिति मानते हैं।

लज्जा का एक हल्का रूप 'संकोच' भी होता है जो किसी काम को करने से पहले ही होता है। कर्म पूरा हो जाने के उपरान्त इस भाव की स्थिति नहीं मानी जाती तब उसे 'लज्जा' ही कहा जाता है। 'संकोच' इस बात के ध्यान या आशंका से होता है कि जो कुछ हम करने जा रहे हैं वह किसी को अप्रिय या बेढंगा तो न लगेगा उससे हमारी कुलीनता या धृष्टता तो न प्रकट होगी। मानव क्रियाओं का प्रतिबन्धक होने के कारण 'संकोच' शील का एक प्रधान अंग सदाचार का एक सहज साधन और शिष्टाचार का एकमात्र आधार माना जा सकता है। शुक्लजी कहते हैं—

"जिसमें शील संकोच नहीं वह पूरा मनुष्य नहीं। बाहरी प्रतिबन्धों से हमारा पूरा शासन नहीं हो सकता—उन सब बातों की रुकावट नहीं हो सकती जिन्हें हमें न करना चाहिए। प्रतिबन्ध हमारे अन्तःकरण में होना चाहिए।" बुद्धि द्वारा प्रवृत्ति जबरदस्ती रोकी जाती है पर लज्जा संकोच आदि की अवस्था में प्राप्त होकर प्रवर्तक मन आपसे आप रुकता है। चेष्टाएँ आपसे आप शिथिल पड़ जाती हैं। यही रुकावट सच्ची है।"

लज्जा और संकोच की अधिकता मानव जीवन के लिए विशेष उपयोगी नहीं होती है। इनकी अतिशयता से व्यवहार तथा शिष्टाचार का निर्वाह भी कठिन हो जाता है। जैसे बहुत से व्यक्तियों को प्रणाम करने में लज्जा मालूम होती है। ऐसी लज्जा किसी काम की नहीं होती।

लोक में लज्जा को स्त्रियों का भूषण माना जाता है। इसका कारण केवल यही है कि स्त्रियाँ चिरकाल से पुरुषों के आश्रय में रहती आई हैं इसलिए उन्हें इस बात का ध्यान विशेष रहता है कि उनकी कोई त्रुटि पुरुषों के सामने न आने पाए। इसी बात के कारण उनके मन में प्रायः यह आशंका बनी रहती है कि कहीं हम अप्रिय न लगें। यही आशंका उनमें चिरस्थायी होकर लज्जा के रूप में हो गई है। पुरुष ने नारी की इस गुण सत्ता को चिरस्थायिनी बनाने के लिए उसे भूषण रूप में वर्णित करना प्रारम्भ किया। फलतः आज स्त्रियों के रूप रंग के समान उनकी लज्जा भी

पुरुषों के लिए आमन्त्र और विलास की सामग्री बन गई है।

घृणा—'लज्जा' प्रवृत्ति में प्रतिबन्ध खड़ा कर देती है परन्तु घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखला देती है अतएव घृणा का यह लक्षण किया जाता है कि अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने आलम्बन से उन्हें दूर रखने की प्रेरणा करने वाला जो दुःख होता है उसे 'घृणा' कहते हैं।

घृणा का लक्ष्य आश्रय का अपना हृदय है, उसीकी क्रियाओं का निर्धारण यह करती है। घृणा के विषय सामान्यतया दो प्रकार के होते हैं—स्थूल और मानसिक। स्थूल विषयों में सभी भद्दे असुन्दर पदार्थ आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध हमारी आँख कान और नाक इन तीन इन्द्रियों से होता है। ये स्थूल विषय प्रायः सब मनुष्यों के लिए समान होते हैं। सुरूप और कुरूप मधुर स्वर और कटु स्वर सुगन्ध और दुर्गन्ध के विषय में प्रायः एकमत रहता है। मानसिक घृणा के विषय में पर्याप्त मतभेद रहता है। केवल मानव अपने मन में बाह्य पदार्थों गुणों तथा व्यापारों के प्रति कुछ धारणाएँ संस्कार रूप से रखता है। इन संस्कारों का निर्माण प्रायः अपनी सहज वृत्ति द्वारा और अधन शिक्षा तथा सामाजिक तथा अन्यान्य परिस्थितियों द्वारा होता है। अपने संस्कारों के अनुकूल भावों के प्रतिकूल जब कोई पदार्थ गुण या व्यापार मानव के सम्मुख उपस्थित होता है तब उसे ऐसे पदार्थों गुणों या व्यापारों से दूर रहने की दुःखमूलक प्रवृत्ति होने लगती है। इस घृणा के आलम्बन मानसिक विषय होते हैं। मानसिक घृणा के कुछ विषय ऐसे भी होते हैं जिनमें प्रायः कोई मतभेद मानव समाज में दृष्टिगोचर नहीं होता है। वेश्यागमन जुआ मद्यपान स्वार्थपरता कायरता आलस्य लम्पटता पाखण्ड अनधिकार चर्चा मिथ्याभिमान आदि इसी प्रकार के सर्व सामान्य मानसिक घृणा के विषय हैं। इन सर्व सामान्य विषयों के सम्बन्ध में भी कभी-कभी मतभेद उपस्थित हो जाता है। यह मतभेद इन विषयों की मात्रा के आधार पर होता है। एक ही वस्तु, गुण या व्यापार किसी मात्रा में श्रद्धा का विषय और किसी मात्रा में घृणा का विषय बन जाता है। यदि दृढ़ता और हठ धीरता और आलस्य सहनशीलता और भीरुता उदारता और

अत्यव्ययिता, मितव्ययिता और कृपणता आदि विषयों के बीच की सीमा सब मानवों के मन में एक समान रहती तो यह मतभेद दृष्टिगोचर न होता। इसी आधार पर शुक्लजी कहते हैं—

"घृणा के विषय में मतभेद का एक और कारण ग्राह्य और अग्राह्य होने के लिए विषय मात्रा की अनियति है। सृष्टि में बहुत-सी वस्तुओं के बीच की सीमाएँ अस्थिर हैं। एक ही वस्तु, व्यापार या गुण किसी मात्रा में श्रद्धा का विषय होता है किसी मात्रा में अश्रद्धा का। इसके अतिरिक्त शिक्षा और संस्कार के कारण एक ही मात्रा का प्रभाव प्रत्येक हृदय पर एक ही प्रकार का नहीं पड़ता। यह नहीं है कि एक बात एक आदमी को जहाँ तक अच्छी लगती है वहाँ तक दूसरे को भी अच्छी लगे।"

अपने संस्कारों के कारण मानव कई स्थूल और मानसिक विषयों पर अपनी ओर से कुछ आरोप कर लेता है। इन्हीं आरोपों के कारण वह किसी विषय को अरुचिकर समझकर उससे घृणा करने लगता है। शुक्लजी की धारणा है कि भिन्न-भिन्न मत वालों में जो परस्पर घृणा देखी जाती है वह अधिकतर ऐसे ही आरोपों के कारण। एक के आचार-विचार से जब दूसरा घृणा करता है। तब उसकी दृष्टि यथार्थ में उस आचार-विचार पर नहीं रहती है अपितु अपनी ओर से आरोपित घृणा के सामान्य आधारों में से किसी एक पर रहती है। इसीलिए वे कहते हैं—"मूसाई और ईसाई लोग देव मूर्तियों से इसलिए घृणा नहीं करते कि वे छोटी वस्तुओं पर श्रद्धा-भक्ति करते हैं बल्कि यह समझकर कि वे उनके अधीन और आसमान बनाने वाले खुदा से दुश्मनी किये बैठे हैं। अपने बनाने और पालने वाले से बैर ठानना कृतघ्नता है अतः उनकी घृणा आरोपित कृतघ्नता के प्रति है देवमूर्ति के प्रति नहीं।"

शुक्लजी ने घृणा का क्रोध से अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखलाती है और क्रोध प्रवृत्ति का। क्रोध का विषय पीड़ा या हानि पहुँचाने वाला होता है इससे क्रोधी उसे नष्ट करने में प्रवृत्त होता है। घृणा का विषय इन्द्रिय या मन के व्यापार में संकोच मात्र उत्पन्न करने

वाला होता है। घृणा का विषय हमें घृणा का दुःख पहुँचाने के विचार से सामने उपस्थित नहीं होता पर क्रोध का चेतन विषय हमें आघात या पीड़ा पहुँचाने के उद्देश्य से हमारे सामने उपस्थित होता है या समझा जाता है। यही कारण है कि घृणा विषय से दूर ले जाने वाली है और क्रोध हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर विषय के पास ले जाने वाली है।

क्रोध के बैर रूप से भी घृणा भिन्न होती है। बैर का आधार व्यक्तिगत होता है घृणा का सार्वजनिक। यही कारण है कि आजकल की बनावटी सभ्यता या शिष्टता में 'घृणा' शब्द बैर या क्रोध को छिपाने का भी काम दे जाता है। बैर करना एक छोटी बात समझी जाती है अतः बैर के स्थान पर 'घृणा' का नाम लेने से बड़प्पन और बचाव दोनों हो जाते हैं। 'घृणा' और 'भय' की प्रवृत्ति यद्यपि एकसी है तथापि दोनों में अन्तर है। भय का विषय भावी हानि का सम्बन्ध निश्चय करने वाला होता है और घृणा का विषय उसी क्षण इन्द्रिय या मन के व्यापारों में संकोच उत्पन्न करने वाला है। कहीं-कहीं 'घृणा' क्रोध का शान्त रूपान्तर मात्र प्रतीत होती है। महात्मा लोग क्रोधपूर्ण बातों को सुनकर भी शान्त रहते हैं परन्तु क्रोध प्रकट करने वालों के प्रति उदासीनता से व्यवहार करते हैं। साधारण लोग भी इसी प्रकार की उदासीनता घृणित व्यक्तियों के प्रति प्रदर्शित कर दिया करते हैं। यही कारण है कि आजकल सभ्यता या शिष्टता के व्यवहार में घृणा को उदासीनता के नाम से छिपाने का यत्न किया जाता है। इन दोनों वृत्तियों में भी अन्तर है। जिस बात से हम घृणा है, हम उस बात के लिए व्याकुल रहते हैं कि वह बात न हो परन्तु जिस बात से हम उदासीन हैं उसके विषय में हमें परवा नहीं रहती वह चाहे हो चाहे न हो। यही दोनों में अन्तर है।

'घृणा' कोई उपयोगी मनोविकार नहीं है क्योंकि यह एक प्रेष्य मनोविकार है। अन्य मनोवेग नकारात्मक सयोग पाकर बहुत जल्दी बढ़ते हैं। घृणा से घृणा उत्पन्न होकर समाज-व्यवस्था में बाधा उपस्थित कर सकती है। अतः शुक्लजी कहते हैं कि इस भाव से बहुत सावधान रहना चाहिए

और लोगों को बहुत समझ-बूझकर उसे स्थान देना और प्रकट करना चाहिए, क्योंकि यदि हमारी घृणा असावधान ऐसी वस्तुओं से है जिनसे हमें लाभ पहुँच सकता है तो उसके अभाव का कष्ट हमें भोगना पड़ेगा। शारीरिक श्रम और शिक्षा आदि से विरक्त घृणा है व उसके लाभ से वंचित रहेंगे। किसी बुद्धिमान् मनुष्य से जो मन में घृणा रखेगा वह उसके सत्संग के लाभ से हाथ धोएगा।

ईर्ष्या—'ईर्ष्या' भी एक असाधारण मनोविकार है। 'ईर्ष्या' के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए शुक्लजी ने लिखा है कि जैसे दूसरे के दुःख को देख दुःख होता है वैसे ही दूसरे के सुख या भलाई को देखकर भी जो एक प्रकार का दुःख होता है उसे 'ईर्ष्या' कहते हैं। जब किसी विषय में अपनी स्थिति को सुरक्षित रख सकने या समुन्नत कर सकने के निश्चय में अयोग्यता या आलस्य आदि के कारण कुछ कसर रहती है तभी इस इच्छा का उदय होता है कि किसी व्यक्ति विशेष की स्थिति उस विषय में हमारे तुल्य या हमसे बढ़कर न होने पाए। यही इच्छा 'ईर्ष्या' के दुःख को उत्पन्न करने में सहायक हो जाती है। 'ईर्ष्या' के इसी स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए वे इसे मूल मनोविकार नहीं मानते अपितु एक मिश्रित मनोविकार स्वीकार करते हैं। उनके विश्लेषण के अनुसार ईर्ष्या की संप्राप्ति आलस्य अभिमान और नैराश्य के योग से होती है। जब हम अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न नहीं करते तभी हमारा ध्यान दूसरों की उन्नति की ओर जा सकता है और इसी अवस्था में यदि हमारा अभिमान साथ मिल जाए तो हम दूसरों की उन्नति से दुःखी होने लगते हैं। अभिमान एक व्यक्तिगत गुण है। यदि व्यक्ति को अपने गुणों-धन ऐश्वर्य तथा शक्तियों का परिज्ञान है और इसी किसी गौरव की अनुभूति से वह अपने में गर्व की अनुभूति भी करता है तो कोई बुराई की बात नहीं परन्तु जब उसमें अपने इन विशिष्ट गुणों के प्रदर्शन की इच्छा उत्पन्न होती है तो यह एक बुराई का रूप धारण करने लगता है। यदि उसे इस बड़ाई के आनन्द का चस्का लग जाएगा और वह हर घड़ी इसका अनुभव करना चाहेगा उसे प्रकट किया करेगा तो यह एक

वृत्ति है कि सभा-समाज में, मित्रमण्डली में, परिवार में, एकान्त कोठरी में कहीं भी स्वीकार नहीं की जाती।

'ईर्ष्या' का एक ऐसा रूप भी है जिससे मानव जीवन में कुछ लाभ भी दृष्टिगोचर होता है। उसे 'स्पर्द्धा' कहा जाता है। 'ईर्ष्या' व्यक्तिगत होती है परन्तु 'स्पर्द्धा' वस्तुगत। स्पर्द्धा में किसी सुख, ऐश्वर्य, गुण या मान से सम्पन्न किसी व्यक्ति को देख अपनी त्रुटि पर दुःख होता है फिर उसकी प्राप्ति की एक प्रकार की उद्वेगपूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है। यहाँ अपनी त्रुटि पर दुःख होता है 'ईर्ष्या' के समान दूसरे की सम्पन्नता पर नहीं अतएव शुक्लजी यह समझते हैं कि 'स्पर्द्धा' संसार में गुणी, प्रतिष्ठित और सुखी लोगों की संख्या में कुछ बढ़ती करना चाहती है और ईर्ष्या कमी। यदि ईर्ष्या अप्राप्य वस्तु ही के लिए होती तब उसके दोष में कुछ कमी मानी जा सकती परन्तु वह तो उस अवस्था में भी मानव को जलाती रहती है जब कि वह वस्तु-सम्पन्न होता है अतएव सम्पन्न दशा की ईर्ष्या का अनौचित्य निर्विवाद है।

शुक्लजी का जीवन दर्शन : मानव मन—शुक्लजी ने इन मनोविकारों के विश्लेषण से मानव सम्बन्धी अपने दर्शन व चिन्तन को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत कर दिया है। इस विश्लेषण के आधार पर हम यह जान सकते हैं कि शुक्लजी ने इन मनोविकारों की मानव जीवन में क्या स्थिति अनुभव की है तथा इनका प्रभाव किस रूप में अपनी धारणा में स्वीकार किया है। गम्भीर विश्लेषण के उपरान्त यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे मानव को मन के अधीन समझते हैं। इन मनोविकारों के कारण ही वह सबल और दुर्बल होता है। भलाई और बुराई के द्योतक ये मनोविकार ही हैं। मानव-मन के स्वरूप के सम्बन्ध में उनकी धारणा को 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध की यथोल्लिखित पंक्तियों में समझ सकते हैं—

"यही बाहर हँसता-खेलता, रोता-गाता, खिलता-मुरझाता जगत् भीतर भी है जिसे हम मन कहते हैं। जिस प्रकार यह जगत् रूपमय और गतिमय है उसी प्रकार मन भी। मन भी रूप-गति का संघात ही है।

शुक्लजी मन को छठी इन्द्रिय मानते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वे भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुसार यह स्वीकार करते हैं कि जिस प्रकार बाह्य रूपादि ज्ञान के साधन नेत्रादि इन्द्रिय हैं उसी प्रकार मन सुख-दुखादि के ज्ञान का साधन रूप इन्द्रिय ही है। वही सारी इन्द्रियों का सहायक और सुख-दुखादि का अनुभव कराने वाला है।

मानव का विकास—मानव के विकास के मूल में भी शुक्लजी ने इन इन्द्रियों को ही कारण माना है। वे 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबन्ध में लिखते हैं—"आरम्भ में मनुष्य की चेतन सत्ता इन्द्रियज ज्ञान की समष्टि के रूप में ही अधिकतर रही। पीछे ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गई त्यों-त्यों मनुष्य की ज्ञान-सत्ता बुद्धि व्यवसायात्मक होती गई है। अब मनुष्य का ज्ञान क्षेत्र बुद्धि व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत विस्तृत हो गया है।"

इस युक्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शुक्लजी इस सम्बन्ध में भौतिक विकासवादी सिद्धान्तों से ही प्रभावित हैं। 'विश्व प्रपंच' की भूमिका भी इसी पक्ष का समर्थन करती है। इसमें उन्होंने अपनी इस धारणा का संकेत किया है कि मनुष्य जाति असभ्य दशा से उन्नति करते करते सभ्य दशा को प्राप्त हुई है। मानव की आत्मरक्षा और लोकरक्षा की सहज प्रवृत्ति ने ही उसे धीरे धीरे उन्नत दशा प्रदान की है। आत्मरक्षा और लोक रक्षा का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। आत्मरक्षा ने लोक रक्षा की प्रेरणा को जन्म दिया है और लोक रक्षा ने आत्म रक्षा की सम्भावना को निश्चित रूप प्रदान किया है। शुक्लजी मानव को लोकबद्ध प्राणी स्वीकार करते हैं और यह कहते हैं कि मानव का अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। इसी लोकबद्धता के कारण मनुष्य ज्यों ही समाज में प्रवेश करता है उसके सुख और दुःख का बहुत-सा अंश दूसरों की क्रिया या अवस्था पर अवलम्बित हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिए अधिक क्षेत्र हो जाता है। शुक्लजी के मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में मानव की यही सामाजिकता सम्बन्धी धारणा

मूल आधार बन गई है। किसी मनोवृत्ति की उपयोगिता या अनुपयोगिता के सम्बन्ध में उसकी सदोषता या निर्दोषता के सम्बन्ध में उसकी अप-वित्रता या पवित्रता के सम्बन्ध में उन्होंने जो अपने निर्णय प्रस्तुत किए हैं वे सब मानव की सामाजिकता को आधार मानकर ही किए हैं।

धर्म-अधर्म—शुक्लजी की धर्म-अधर्म सम्बन्धी मान्यताओं का भी सामा-जिकता ही आधारभूत है। नैतिकता और धर्म के विकासके सम्बन्ध में उनकी धारणा विकासवाद का आश्रय लेकर ही निर्मित हुई है। वे धर्म को सामा-जिक नियमों के रूप में ग्रहण करते हैं। इसके लिए उन्होंने किसी आध्या-त्मिक शास्त्र की मान्यताओं को मुख्य रूप से आधार बनाने का यत्न नहीं किया है। उनकी धर्म-सम्बन्धी धारणा आत्मपक्ष और लोकपक्ष के समन्वय पर आधारित है। 'गोस्वामी तुलसीदास' की आलोचना करते समय उन्होंने अपनी इस धारणा को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

'हमें अपनी अन्तवृ त्ति भी शुद्ध और सात्त्विक रखनी चाहिए और अपने सम्बन्ध में लोक की धारणा भी अच्छी बनानी चाहिए। जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े उसे मनुष्यत्व का पूर्ण विकास नहीं कह सकते। यदि हम वस्तुतः सात्त्विक शील हैं पर लोग भ्रमवश या और किसी कारण हम बुरा समझ रहे हैं तो हमारी सात्त्विक शीलता समाज के किसी उपयोग की नहीं।' 'श्रद्धा' के विवेचन प्रसंग में भी उन्होंने अपने धर्म का स्वरूप स्पष्ट किया है। उनके धर्म का आधार कोई ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक नहीं अपितु लोक कल्याण एवं समाज व्यवस्था की रक्षा ही है। इसी कारण वे शील को धर्म का पर्यायवाची समझते हैं। उनका विश्वास है कि शील या धर्म के सामान्य लक्षण संसार के प्रत्येक सभ्यजन समुदाय में प्रतिष्ठित हैं। धर्म ही से मनुष्य-समाज की स्थिति है अतः उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का रंचमात्र मतभेद आदि नहीं। किसी कर्म में प्रवृत्त होने से पहले यह स्वीकार करना आवश्यक होता है कि वह कर्म या तो हमारे लिए या समाज के लिए अच्छा है। इस प्रकार की स्वीकृति धर्म (धर्म) की पहली तैयारी है। इस प्रकार से धर्म के निर्णय की कसौटी हमारे सम्मुख प्रस्तुत

कर देते हैं। उनकी दृष्टि से यज्ञ धर्म की पहली सीढ़ी है क्योंकि इसके द्वारा हम आनन्दपूर्वक यह स्वीकार कर लेते हैं कि कर्म के अमुक-अमुक दृष्टान्त धर्म के हैं।

आध्यात्मिक धर्म की व्याख्या के मूल में भी शुक्लजी की इसी धारणा का दर्शन होता है। 'आनन्द की धर्मभूमि' शीर्षक लेख में उन्होंने धर्म का लक्षण किया है और उसकी ऊँची-नीची भूमियों का उल्लेख किया है। इसके अनुसार ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति धर्म है। अखिल विश्व स्थिति में इस धर्म के दर्शन हो सकते हैं। परिवार और समाज के छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भूमण्डल और अखिल विश्व तक इसी धर्म का प्रसार है। उनके कहने का अभिप्राय यही है कि अखिल विश्व की स्थिति रक्षा ही पूर्ण धर्म है। यह पूर्ण धर्म पूर्ण-पुरुष या पुरुषोत्तम में ही रहता है। जैसे ब्रह्म का सत्स्वरूप इस अखिल-विश्व की स्थिति रक्षा करके पूर्ण धर्म का अधिष्ठाता कहलाता है, इसी प्रकार मानव भी विश्व रक्षा की भावना का अपने अन्तःकरण में विस्तार करके धर्मात्मा कहला सकता है। इसी धारणा के आधार पर शुक्लजी ने धर्म की भूमियाँ प्रतिपादित की हैं। वे कहते हैं—

"धर्म की ऊँची-नीची कई भूमियाँ लक्षित होती हैं—जैसे गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्णधर्म। किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाला धर्म उच्च कोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोकधर्म से विश्व धर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्णस्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्ण-धर्म अंगी है और शेष धर्म अंग।" इससे यह स्पष्ट है कि शुक्लजी की दृष्टि में विश्व रक्षा की भावना से प्रेरित कर्म ही धर्म है। यही कारण है कि उनकी आस्था व्यक्तिगत धर्म की अपेक्षा लोकधर्म में परिलक्षित होती है।

लोकधर्म—उनके इस लोकधर्म के तीन अवयव हैं—कर्म, ज्ञान और उपासना। वे मानव जीवन की पूर्णता इन तीनों के सामञ्जस्य में ही मानते हैं। वे अपने लोकधर्म की व्याख्या इन शब्दों में करते हैं—

"संसार जैसा है वैसा मानकर उसके बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ जो धर्म निकलेगा वही लोकधर्म होगा। जीवन के किसी एक अंग मात्र का स्पर्श करने वाला धर्म लोकधर्म नहीं। "जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है वही लोक धर्म होता है।"

इसी प्रसंग में उन्होंने गिडिंग्स द्वारा प्रणीत समाज शास्त्र में वर्णित जनता के चार विभागों का उल्लेख किया है—लोक संग्रही लोकबाह्य अलोकोपयोगी और लोक विरोधी। लोकसंग्रही वे हैं जो समाज की व्यवस्था और मर्यादा की रक्षा में तत्पर रहते हैं और भिन्न-भिन्न वर्गों के परस्पर सम्बन्ध को सुखावह और कल्याणप्रद करने की चेष्टा करते हैं। लोकबाह्य वे हैं जो केवल अपने जीवन-निर्वाह से काम रखते हैं और लोक के हिताहित से उदासीन रहते हैं। अलोकोपयोगी वे हैं जो समाज में मिले तो दिखाई देते हैं पर उसके किसी अर्थ के नहीं होते जैसे आलसी और निकम्मे जिन्हें पेट भरना ही कठिन है। लोक विरोधी वे हैं जिन्हें लोक से द्वेष होता है और जो उसके विधान और व्यवस्था को देखकर जला करते हैं। पुण्यात्मा धार्मिक और पापात्मा अधार्मिक के परखने की शुक्लजी की कसौटी इसी उल्लेख से स्पष्ट की जा सकती है। चतुर्थ वर्ग के लोग ही पापी कहला सकते हैं और प्रथम वर्ग के लोग ही वास्तव में पुण्यात्मा धार्मिक कहला सकते हैं।

व्यक्तिधर्म और लोकधर्म के विरोध की स्थिति में शुक्लजी लोकधर्म को ही ग्राह्य मानते हैं। व्यक्तिधर्म का उल्लंघन भी इस स्थिति में उनको प्रिय है। उनका विश्वास है कि यदि किसी अत्याचारी का दमन सीधे न्यायसंगत उपाय से नहीं हो सकता तो कुटिल नीति का अवलम्बन लोक धर्म की दृष्टि से उचित है। किसी अत्याचारी द्वारा समाज को जो हानि पहुँच रही है उसके सामने वह हानि कुछ नहीं है जो किसी एक व्यक्ति के बुरे दृष्टान्त से होगी। सत्य परिस्थापक और श्रेयस्कर है तो साधन का अनिवार्य अनौचित्य उतना खल नहीं सकता है। उनका कथन है कि व्यक्ति

पर सफलता के लिए जिसे नीति कहते हैं सामाजिक आदर्शों की सफलता का साधक होकर वही धर्म हो जाता है।

नियम और शील—मुखर्जी ने धर्म के दो अंगों नियम और शील का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि नियम का सम्बन्ध विवेक से है और शील का हृदय से। सत्य बोलना प्रतिज्ञा का पालन करना नियम के अन्तर्गत है। दया क्षमा वात्सल्य कृतज्ञता आदि शील के अन्तर्गत हैं। उनकी धारणा है कि शील की रक्षा के लिए नियमों को शिथिल किया जा सकता है अर्थात् किसी निरपराध की रक्षा के लिए झूठ बोला जा सकता है। यदि किसी प्रकार नियम और शील दोनों की रक्षा की जा सके तो वही उत्तम मार्ग कहला सकता है।

मार्क्सवाद और मुखर्जी का लोकधर्म—धर्म और समाज सम्बन्धी उक्त धारणाओं को देखकर हम मुखर्जी को मार्क्सवादी नहीं कह सकते। निःसन्देह मुखर्जी व्यक्ति की अपेक्षा समाज को महत्त्व देते हैं परन्तु वे मार्क्स के साम्यवाद का समर्थन नहीं करते। उनके चिन्तन के मूल में भारतीयता का भाव प्रमुख है। व्यक्ति सर्वथा उपेक्षित नहीं हो सकता है। समाज की सुव्यवस्था के लिए व्यक्ति की भावनाओं को प्रश्रय देना पड़ता है। मार्क्स का साम्यवाद इस तथ्य की अवहेलना करके वर्गहीन समाज की कल्पना करता है। मुखर्जी का चिन्तन इस कल्पना को समाज के लिए अमंगल कारिणी समझता है। वे कहते हैं कि "परिवार में जिस प्रकार ऊँची-नीची श्रेणियाँ होती हैं उसी प्रकार शील विद्या बुद्धि शक्ति आदि की विभिन्नता से समाज में भी नीची ऊँची श्रेणियाँ रहेंगी। कोई आचार्य होगा कोई शिष्य कोई राजा होगा कोई प्रजा कोई अफसर होगा कोई मातहत कोई सिपाही होगा कोई सेनापति। यदि बड़े छोटों के प्रति दुःशील होकर हर समय दुर्वचन कहने लगें यदि छोटे-बड़ों का आदर सम्मान छोड़कर उन्हें आँख दिखाकर डाँटने लगें तो समाज चल ही नहीं सकता।"

साधारण धर्म और विशेष धर्म—मनुष्य मात्र का मनुष्य मात्र के प्रति जो सामान्य कर्तव्य होता है, उसके अतिरिक्त स्थिति का व्यवधान

विशेष के अनुसार भी मनुष्य के कुछ कर्तव्य होते हैं। जैसे माता-पिता के प्रति पुत्र का पुत्र के प्रति पिता का इत्यादि। बड़े-छोटे का विभाग इसी विशेष धर्म की सीमा में आता है। गुप्तजी की धारणा के अनुसार वही बड़ा है जो दूसरों के हित में वैयक्तिक सुख का त्याग करता है और जो लोक-कल्याण के लिए कठिन कर्तव्यों का व्रत लेकर चलता है। इस प्रकार वैयक्तिक सुख का त्याग और कठिन कर्तव्यों का परिग्रहण जिस परिमाण में होगा उसीके अनुपात से बड़प्पन होगा। भारतीय वर्ण-व्यवस्था के प्रति उनकी आस्था इसी कारण से है। वे कहते हैं कि संसार के और देशों में जो मत प्रवर्तित हुए उनमें साधारण धर्म का ही पूर्ण समावेश हो सका विशेष धर्मों की बहुत कम व्यवस्था हुई। पर सरस्वती और दृषद्वती के तटों पर पल्लवित आर्य सभ्यता के अन्तर्गत जिस धर्म का प्रकाश हुआ विशेष धर्मों की विस्तृत व्यवस्था उसका लक्षण हुआ और वह 'वर्णाश्रम धर्म' कहलाया। इसी धर्म के आधार पर भारतीय वर्ण-व्यवस्था स्थापित हुई है। वह श्रम व्यवस्था और मान-व्यवस्था करती है और समाज में सामंजस्य की प्रतिष्ठा करती है। यही सामंजस्य वास्तविक समता होगी। केवल आर्थिक समता का प्रसार सुव्यवस्थित समाज का निर्माण नहीं कर सकता है। भारतीय वर्ण व्यवस्था के मूल में गुप्तजी ने व्यक्तिगत सुख का त्याग और कठिन कर्तव्य योजना का दर्शन किया है। इसके अतिरिक्त उच्च वर्ण में अधिक मान का अधिक अधिकार के साथ कठिन कर्तव्यों की योजना और निम्न वर्णों में कम मान और कम अधिकार के साथ अधिक अवस्थाओं में आराम की योजना भी इस व्यवस्था की एक उल्लेखनीय विशेषता है इसीसे वह जीवन निर्वाह की दृष्टि से स्थिति में सामंजस्य रखती थी।

कर्म की वर्णहीन व्यवस्था से गुप्तजी सर्वथा प्रभावित नहीं [illegible] थे। इसका प्रमाण 'गोस्वामी तुलसीदास' के लोक नीति और मर्यादावाद नामक प्रसंग की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रस्तुत करती हैं—

"ऊँची श्रेणियों के कर्तव्य की पुष्ट-व्यवस्था न होने से ही योरोप में नीची श्रेणियों में ईर्ष्या द्वेष और अहंकार का प्रावल्य हुआ जिससे लाभ

उदाहरण 'कविर' अपने समय में महात्मा बना रहा। समाज की ऐसी वृत्तियों पर स्थित 'माहात्म्य' का स्वीकार घोर अज्ञान का सूचक है। मूर्ख जनता के इस महात्म्य-प्रदान पर न भूलना चाहिए।

वम जो समाज-व्यवस्था को वे निम्न वर्ग की दुर्बलिया पर आधारित मानते हैं। ऐसी स्थिति में उनका विश्वास है कि विशिष्ट प्रतिभा के विकास का एवं नैतिक उत्कर्ष का सर्वथा अभाव रहेगा। इसीलिए वे लिखते हैं कि—

"जन्म से भारी भारी विद्वानों और गुणियों का मानना इस बात का परिणाम है रहा है। अन्य शक्ति वालों की महत्वाकार वृत्ति का पुष्ट करने वाला 'साम्य' शब्द ही उत्कर्ष का विरोधी है।"

गुरुजी समाज की विषमता के मूल में मानव की दुर्वृत्तियों के प्रसार को ही रोगी समझते हैं। गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार ही यदि वर्ण व्यवस्था हो अथवा वह निश्चित हो तो यह विषमता भी समता ही है। इसके विपरीत यदि जन्म तथा जात्यभिमान का महत्त्व दिया जाने लगा तो उससे समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होगी। कलह अभिमानी की दुवृत्ति समाज की विषमता का कारण बनती है। इसी अभिमानके कारण किसी व्यक्ति आपको ऊँचा या नीचा समझने लग जाता है। इस प्रकार क्रमशः छोटाई बड़ाई का अभिमान जगह जगह जम कर दृढ़ हो जाता है और उनके भिन्न-भिन्न वर्गों के बीच स्थायी ईर्ष्या स्थापित हो जाती है और इसीसे वर्ग संघर्ष की नींव पड़ जाती है।

मनोवृत्तियों का परिष्कार—गुरुजी वृत्तियों के दमन के पक्षपाती नहीं हैं परन्तु वे उनका परिमार्जन-परिष्कार सम्भव समझते हैं। वृत्तियों के दमन से तो मानव का स्वरूप ही विकृत होने लगता है। वृत्तियों का परिष्कार ही मनुष्य के कल्याण का उचित मार्ग है। उनकी दृष्टि में मानव का लक्ष्य स्वधर्म और लोकसंयम के संगम पर पहुँचाना है। इस संयम के लिए प्रकृति के क्षेत्र के बीच मनुष्य को अपने हृदय के प्रसार का अभ्यास करना चाहिए। इसी प्रसंग में वे लिखते हैं कि जब मनुष्य के सुख

और मानव का प्रेम शेष प्रकृति के सुख-सौन्दर्य के साथ हो जाएगा। जब उसकी रक्षा का भाव तृण-गुल्म, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सबकी रक्षा के साथ सम्मिलित हो जाएगा तब उसके अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो जाएगा और वह जगत् का सच्चा प्रतिनिधि हो जाएगा।

मुक्ति, स्वर्ग, नरक—शुक्लजी की दृष्टि में मुक्ति का मार्ग धर्म का विकास ही है। मोक्ष का मार्ग धर्म मार्ग से अलग-अलग नहीं जा सकता है। धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता है। इस लोक को दूषित करके किसी परलोक को सुधारने की कल्पना उनको प्रिय नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वर्ग-नरक सम्बन्धी धारणाओं को शुद्ध लोक धर्म में प्रवृत्ति के लिए अर्थवाद स्वरूप मानते हैं। 'सूरदास' नामक ग्रंथ में भक्ति के विकास को स्पष्ट करते हुए वे धर्म के तीन अंगों—शास्त्र पक्ष, बुद्धि और हृदय का उल्लेख करते हैं। स्वर्ग-नरक के वर्णन शास्त्र पक्ष के अन्तर्गत हैं। ये केवल निम्नवर्गों में धर्म प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए हैं।

यह संसार ही मनुष्य के धर्म प्रसार का क्षेत्र है या अधर्म का दण्ड भोगने का स्थान है। मनुष्य ही अपने स्वर्ग या नरक का निर्माण कर लेता है। शुक्लजी तो संसार का अस्तित्व भी मानव-कल्पना के सम्बन्ध से ही स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है। संसार तो कहने-सुनने के लिए है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। अपने इस संसार को मानव स्वयं सुखमय या दुःखमय बना सकता है। इसके लिए उसे अपने अन्तःकरण में सात्त्विकता को जमाने की आवश्यकता है। यह सात्त्विकता करुणा, श्रद्धा आदि भावनाओं के विकास से ही उत्पन्न की जा सकती है।

ब्रह्म का दर्शन—शुक्लजी के दार्शनिक मन्तव्यों का यही सार है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म का दर्शन व्यक्त जगत् में ही हो सकता है। लोक की रक्षा 'सत्' का आभास है, लोक का मंगल 'परमानन्द' का आभास है। मानव के भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार करता है तब आनन्द का

आविर्भाव होता है। इसी लोक के बीच नर में नारायण की दिव्य कला का सम्यक दर्शन और उसके प्रति हृदय का पूर्ण निवेदन वास्तविक साधना है। लोक रक्षा रूप धर्म की रसात्मक अनुभूति भक्ति है। शुक्लजी ने इन्हीं दार्शनिक मन्तव्यों की पृष्ठभूमि में अपने साहित्यिक चिन्तन का विस्तार व प्रसार किया है।

हृदय में अनुभूति होती है ठीक उसी रूप में शब्दों द्वारा वह प्रेषित नहीं की जा सकती है। कवि को अपने इस कार्य में अन्तःकरण की तीन वृत्तियों—कल्पना, वासना और बुद्धि से काम लेना पड़ता है। कवि सहृदय एवं भावुक होता है। वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का पूर्ण सामंजस्य कर लेता है। उसकी सहृदयता सृष्टि व्यापिनी हो जाती है। वह नर प्रकृति और बाह्य जड़ प्रकृति के रूपों व व्यापारों में समान रुचि धारण कर लेता है। इस प्रकार वह जगत् के विभिन्न तथ्यों का प्रत्यक्षीकरण करके उनमें से मार्मिक तथ्यों का चयन करके अपनी सृष्टि की रचना कर लेता है। यह सृष्टि उसकी वाणी का प्रसार होती है। इसी वाणी के प्रसार से हम संसार के सुख-दुःख, आनन्द, क्रोध आदि का शुद्ध स्वार्थ-मुक्त रूप में अनुभव करते हैं। कवि की विधायक कल्पना उसकी इस कार्य में पूर्ण सहायता करती है। यही उसे अप्रस्तुत-विधान में सहायता प्रदान करती है। इसी के सहयोग से वह अपनी अनुभूति के प्रकाशन के लिए उपयुक्त उपमान एवं प्रतीक अन्य जगत् से संकलित करने में समर्थ हो जाता है।

कवि सौन्दर्योपासक होता है। उसकी दृष्टि तो सौन्दर्य की ओर जाती है चाहे वह कहीं हो—वस्तुओं के रूप-रंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में। जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर वह सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है। अतएव उसकी रचना में न कोई बात भली कही जा सकती है न बुरी, न शुभ न अशुभ, न उपयोगी। सब बातें केवल दो रूपों में दिखाई जाती हैं—सुन्दर, असुन्दर। जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है कवि उसके सौन्दर्य पक्ष पर आप भी मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध करता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल समझता है उसको कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुन्दर कहता है। दृष्टि भेद मात्र है। धार्मिक की दृष्टि जीव के कल्याण, परलोक में सुख, भव बन्धन से मोक्ष आदि की ओर रहती है पर कवि की दृष्टि इन सब बातों की ओर नहीं रहती। वह उधर देखता है जिधर सौन्दर्य दिखाई पड़ता है।

कवि उपदेष्टा नहीं होता है। वह नीति अनीति की शिक्षा नहीं देता

है। वह तो केवल सौन्दर्य के प्रभाव द्वारा प्रवृत्ति या निवृत्ति अन्तःप्रकृति में उत्पन्न करता है। वह सौन्दर्य से स्वयं प्रभावित होता है और दूसरों को भी प्रभावित करता है। जहाँ वह धार्मिक उपदेशकों के समान मंगल शक्ति की सफलता दिखाता है वहाँ भी वह कला की दृष्टि से सौन्दर्य का प्रभाव डालने के लिए ही सफलता दिखाता है, धर्मशासक की हैसियत से डराने के लिए नहीं कि यदि ऐसा कर्म करोगे तो ऐसा फल पाओगे। किसी रहस्यमयी प्रेरणा से उसकी कल्पना में कई प्रकार के सौन्दर्य का जो मेल आप-से-आप हो जाया करता है उसे पाठक के सामने भी वह प्रायः रख देता है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति की उत्तेजना अन्तःकरण में उत्पन्न करने के लिए कवि के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सदा असामान्य अद्भुत और अभ्य चमत्कार वाली वस्तुओं की ओर ही दृष्टि ले जाए। जो सच्चा कवि होता है उसके द्वारा अंकित साधारण वस्तुएँ भी मन को तल्लीन करने वाली होती हैं। साधारण के बीच में यथास्थान असाधारण की योजना करना सहृदय और कला कुशल कवि का ही काम है। साधारण-असाधारण अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करने वाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी हैं। साधारण के बीच में असाधारण की अद्भुत अभिव्यक्ति हो सकती है। साधारण में ही असाधारण की सत्ता है केवल असाधारणत्व कवि का लक्ष्य नहीं होता है और न ही उसका ध्येय अपनी व्यंजना प्रणाली को असाधारण रूप देना ही होता है।

पात्र—शुक्लजी की काव्य स्वरूप सम्बन्धी धारणा का दूसरा आधार पात्र है। कवि इस व्यक्त जगत् के प्रति अपनी रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति पात्र योजना द्वारा करता है। वस्तु योजना भी इसी पात्र योजना का ही अंग है। जैसे व्यक्त जगत् के जड़ पदार्थों को अथवा चेतन व्यक्तियों के अनन्य रूपों तथा व्यापारों को देखने के अनन्तर कवि-हृदय विभिन्न अनुभूतियों में पूर्ण हो जाता है। ठीक इसी प्रकार कवि द्वारा सृष्ट पात्र भी वर्णित किया जाता है। शुक्लजी पात्र द्वारा भाव की व्यंजना करने में कवि के दो रूप वर्णित करते हैं—सहज और आरोपित। यदि व्यंजित किये जाने वाले

सौन्दर्य माधुर्य विचित्रता भीषणता क्रूरता इत्यादि की भावनाएँ बाहरी रूप और व्यापारों से ही निष्पन्न हुई हैं। हमारे प्रेम भय आश्चर्य क्रोध करुणा इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलम्बन बाहर ही हैं—इसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत् के ही हैं। जब हमारी आँखें देखने में प्रवृत्त रहती हैं तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है तब रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते हैं। बाहर-भीतर दोनों ओर रहते रूप ही हैं। इसी मान्यता के आधार पर वे काव्य का काम मनुष्य के सब भावों और मनोविकारों के लिए प्रकृति के अपार क्षेत्र से आलम्बन का विषय चुन-चुनकर रखना स्वीकार करते हैं और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि काव्य का सम्बन्ध जगत् और जीवन की अनेक रूपता के साथ स्वतः सिद्ध है। कवि जब अपनी अन्तःप्रकृति का बाह्य प्रकृति के साथ सामंजस्य घटित करने का प्रयास करता है, जब वह अपनी भावात्मक सत्ता का प्रसार बाह्य जगत् के व्यापक क्षेत्र में करने का उपक्रम करता है तभी काव्य का शुद्ध स्वरूप प्रकट होने लगता है।

शुक्लजी ने इस व्यापक क्षेत्र का भी विश्लेषण किया है। वे कहते हैं कि काव्य दृष्टि कहीं तो नरक्षेत्र के भीतर रहती है कहीं मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और कहीं समस्त चराचर के भीतर रहती है।

नरत्व में—उनकी धारणा है कि नरत्व की बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति के नाना सम्बन्धों और पारस्परिक विधानों का संकलन या उद्भावना ही काव्यों में अधिकतर पाई जाती है। यह नरक्षेत्र भी बड़ा व्यापक है। मानव के समस्त व्यापारों के मूल में प्रवर्तक रूप से भाव रहते हैं। इन भावों का सम्बन्ध बाह्य जगत् के अनेक रूपों तथा व्यापारों से ही होता है अतएव जिस प्रकार जगत् अनेक रूपात्मक और विस्तृत है इसी प्रकार मनुष्य भी अनेक भावात्मक है। मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और तीक्ष्ण कठोर, मधुर, और कटु पक्ष हैं। काव्य की दृष्टि इन दोनों पक्षों की ओर निरन्तर रहती है। उसमें इन दोनों का समन्वय अपेक्षित होता है। वे कहते हैं कि प्रेम, अभिलाष,

विरह, बीभत्स, हर्ष आदि छोटी-सी मनोवृत्तियों का एक छोटा सा घेरा सम्पूर्ण काव्य क्षेत्र नहीं हो सकता है। इन भावों के साथ और दूसरे भाव जैसे क्रोध भय उत्साह घृणा इत्यादि ऐसी जटिलता से गुम्फित हैं कि सम्यक् काव्य दृष्टि उनको अलग नहीं छोड़ सकती। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

"काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेम भाव की कोमल व्यंजना में ही नहीं माना जा सकता जैसा कि टाल्सटाय के अनुयायी या कुछ कलावादी कहते हैं। क्रोध आदि उग्र और प्रचण्ड भावों के विधान में भी यदि उनकी तह में करुण-भाव अव्यक्त रूप में स्थित हो पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।"

मनुष्येतर बाह्य सृष्टि—प्रकृति—काव्य स्वरूप के निर्माण के लिए नर प्रकृति के चित्रण के समान ही मानवेतर बाह्य सृष्टि के उल्लेख को भी शुक्ल जी अनिवार्य समझते हैं। मानव की परिस्थिति उसके जीवन का आश्रयण है अतः उपचार से वह उसके भावों का आलम्बन है। वन पर्वत नदी निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य मानव के राग या रतिभाव के स्वतन्त्र आलम्बन हैं। उनमें सहृदयों के लिए सहज आकर्षण वर्तमान है। इन दृश्यों के अन्तर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होंगे उनमें जीवन के मूल स्वरूप और मूल परिस्थिति का आभास पाकर मानव की वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं। शुक्ल जी का यह सिद्धान्त है कि प्राकृतिक दृश्य केवल अंग रूप से ही हमारे भावों के आलम्बन नहीं हैं स्वतन्त्र रूप में भी हैं। जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्य जाति का अधिकांश अपनी आयु व्यतीत करता है उनके प्रति प्रेम भाव पूर्व-साहचर्य के प्रभाव से संस्कार या वासना के रूप में हमारे अन्तःकरण में निहित है। उनके दर्शन या काव्य आदि में प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरंजन होता है वह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। इस अनुरंजन को केवल किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी अज्ञानता का ढिंढोरा पीटना है।

शुक्लजी की धारणा के अनुसार मानवेतर जड़ प्रकृति भी काव्य का विषय है। उसका वर्णन दो रूपों में हो सकता है—उद्दीपन रूप में तथा आलम्बन रूप में। निस्सन्देह प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र की रस-निरूपण-पद्धति में

आलम्बनों के बीच बाह्य प्रकृति को स्थान नहीं मिला है। वह उद्दीपन मात्र मानी गई है। यही कारण है कि प्राय मनुष्यों के रूप व्यापार या मनोवृत्तियों के सादृश्य साधम्य की दृष्टि से प्राकृतिक वस्तु-व्यापार लाये जाते रहे हैं। ऐसे स्थलों में ये व्यापार नर सम्बन्धी भावना को ही तीव्र करने के लिए रखे जाते हैं। शुक्ल जी आलम्बन रूप से भी प्राकृतिक वर्णन को महत्व प्रदान करते हैं। इनकी धारणा का आधार उनका यह विश्वास है—"मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सम्बन्ध का विच्छेद करके अपने आनन्द की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिए मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक रूपात्मक क्षेत्र मिला है उसी प्रकार भावों (मन के वेगों) की व्याप्ति के लिए भी। अब यदि आलस्य या प्रमाद के कारण मनुष्य इस द्वितीय क्षेत्र को संकुचित कर लेगा तो उसका आनन्द पशुओं के आनन्द से भिन्न किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता। अतः यह सिद्ध हुआ कि वन पवन नदी निर्झर, पशु-पक्षी खेत-बारी इत्यादि के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक है या कम-से-कम वासना के रूप में अन्तःकरण में निहित है।

इस सम्बन्ध में उन्होंने आदि कवि वाल्मीकि और महाकवि कालिदास को अपना आदर्श माना है। वे वाल्मीकीय रामायण को सार्वकाव्य का आदर्श स्वीकार करते हैं, क्योंकि इसमें राम के रूप गुण शील स्वभाव तथा रावण की विरूपता अनीति तथा अत्याचार आदि का पूरा चित्रण तो मिलता ही है साथ ही अयोध्या चित्रकूट, दण्डकारण्य आदि का चित्र भी पूरे ब्यौरे के साथ सामने आता है। इसी प्रकार उनका विश्वास है कि महाकवि कालिदास के 'कुमार सम्भव' के प्रारम्भ में हिमालय का जो विशद वर्णन किया है वह केवल शृङ्गार के उद्दीपन की दृष्टि से नहीं है वह तो आलम्बन रूप से ही किया गया है।

शुक्लजी काव्य में प्राकृतिक वस्तुओं के परिगणन या संकेत मात्र को उपयोग नहीं समझते। केवल परिगणन या संकेत से वस्तु का पाठक या श्रोता की कल्पना में पूर्ण चित्रण मात्र होगा, उसके स्वतन्त्र का बिम्ब ग्रहण

नहीं। काव्य के लिए वस्तु के बिम्ब ग्रहण की अपेक्षा होती है। इन वस्तुओं के रूप और आस-पास की परिस्थिति का ब्योरा जितना स्पष्ट होगा उतना ही पूर्ण बिम्ब ग्रहण होगा केवल 'उद्दीपन' होने के लिए रूप का थोड़ा-थोड़ा प्रकाश या संकेत-मात्र यथेष्ट है पर 'आलम्बन' होने के लिए पूर्ण और स्पष्ट स्फुरण होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त वे काव्य के लिए प्राकृतिक पदार्थों में सुन्दर-असुन्दर या कोमल-कठोर या साधारण-असाधारण इत्यादि का भेद अनिवार्य नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि प्रकृति अनन्त रूपों में हमारे सम्मुख आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूपों में कहीं बेडौल या कर्कश रूप में कहीं भव्य विशाल या विचित्र रूप में कहीं उग्र कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है। प्रकृति की रम्यता मधुरता सरसता प्रसन्नता, विशालता विचित्रता से ही प्रभावित होनेवाला वास्तव में भावुक या सहृदय नहीं है। उनका यह सिद्धान्त है कि भाषा के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलम्बन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण से साधारण वस्तु हमारे गम्भीर से गम्भीर भावों का आलम्बन हो सकती है। सच्चे कवि द्वारा चित्रित साधारण वस्तुएँ भी मन को तल्लीन करने वाली हो जाती हैं। अतः प्रसंग प्राप्त साधारण-असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन कवि का कर्तव्य है। वे साधारण वस्तु के प्रति साहचर्य से उत्पन्न होनेवाले प्रेम को अत्यन्त प्रभावशाली समझते हैं, उसमें वृत्तियों को तल्लीन करने की क्षमता स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि यह तल्लीनता असाधारणत्व पर अवलम्बित नहीं है। यही कारण है कि जिनका हमने लड़कपन में साथ रहा है जिन पेड़ों के नीचे जिन टीलों पर, जिन नदी-नालों के किनारे हम अपने साथियों को लेकर बैठते रहे हैं उनके प्रति हमारा प्रेम जीवन भर स्थायी होकर बना रहता है। उनकी दृष्टि में त्व असामान्यत्व की रुचि सहृदयता की पहचान नहीं है।

मनुष्येतर प्रकृति के अनेक रूपों तथा व्यापारों से मानव की अन्तर्वृत्तियों या तथ्यों की अभिव्यंजना होती है। शुक्लजी ने उसे भी काव्य

क्षेत्र के अन्तर्गत माना है। पशु-पक्षियों के सुख-दुःख हर्ष विषाद राग-द्वेष तोष-क्षोभ कृपा क्रोध इत्यादि भावों की व्यंजना तो प्रत्यक्ष है। इनके अतिरिक्त पेड़-पौधे लता-गुल्म आदि भी इसी प्रकार कुछ भावों या तथ्यों की व्यंजना कर देते हैं। यह व्यंजना पर्याप्त गूढ़ रहती है। काव्य में इन मार्मिक तथ्यों का उद्घाटन उपादेय होता है। इस सम्बन्ध में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि पशु-पक्षियों के विभिन्न रूपों व व्यापारों पर तथा पेड़-पौधे लता-गुल्म आदि जड़ पदार्थों के अनन्त रूपों व व्यापारों पर मानव भावनाओं का आरोप नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत उनकी रूप चेष्टा या परिस्थिति से सहज भाव से मार्मिक तथ्यों का चयन अवश्य होना चाहिए। उनका यह सिद्धान्त है कि जहाँ तथ्य केवल आरोपित या सम्भावित रहते हैं वहाँ व अलंकार रूप में ही रहते हैं। जहाँ तथ्यों का आभास सहृदयभाव से मानवेतर सृष्टि के रूपों-व्यापारों से मिलता है वहाँ वे हमारे भावों के विषय वास्तव में बन सकते हैं। पुराने अन्योक्तिकारों के अन्यवचन इसी कारण मर्मस्पर्शी हो गए हैं। इन अन्योक्तिकारों ने मानव जीवन के साथ मानवेतर सृष्टि की रूप-चेष्टाओं तथा परिस्थितियों की समता का उद्घाटन बड़ी मर्मस्पर्शिता के साथ सम्पन्न किया है।

समस्त चराचर—यदि कवि अपनी दृष्टि नरक्षेत्र तथा मानवेतर क्षेत्र पर पृथक्-पृथक् रखकर काव्य-निर्माण करता है तो शुक्ल जी की धारणा के अनुसार उसकी दृष्टि सीमित है। इसके विपरीत यदि वह समष्टि रूप में समस्त जीवन क्षेत्र पर अपनी दृष्टि डालता है तो वह अपेक्षाकृत अधिक व्यापक तथा गम्भीर होगी क्योंकि विच्छिन्न दृष्टि की अपेक्षा समष्टि दृष्टि में अधिक व्यापकता और गम्भीरता रहती है। कवि को अपनी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक बना लेना चाहिए कि वह समस्त व्यक्त सत्ता के भीतर चर-अचर के स्थान का अनुभव करे और अपनी पार्थक्य बुद्धि का परिहार कर दे। ऐसी स्थिति में कवि का हृदय उच्चभूमि पर पहुँच कर प्रशान्त एवं गम्भीर हो जाता है।

रागात्मक सम्बन्ध—काव्य में जगत् या जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली

प्रकार की मानसिक दशाओं को एक ही मान लिया है। इसी प्रकार भारतीय साहित्याचार्यों ने भी प्रत्येक भाव की इस स्थायी दशा का स्पष्ट नामकरण नहीं किया है और शील दशा का भी पृथक निरूपण नहीं किया है।

साहित्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित नौ स्थायी भावों में से हास, उत्साह और निर्वेद को छोड़कर शेष सब भाव आधुनिक मनोविज्ञानियों ने भी मूल भाव रूप से स्वीकार किये हैं। शुक्लजी ने भी निर्वेद को अभाव रूप कहा है और उस पर स्थायी भाव के रूप में विचार नहीं किया है। उनके कहने के अनुसार शेष आठ भावों पर भी प्राचीन शास्त्रीय लक्षण केवल 'रति' को छोड़कर क्रोध आदि अन्य भावों पर नहीं घटता। आचार्यों ने इन्हें स्थायी भाव केवल इसी आधार पर कहा है क्योंकि यह भाव एक अवसर पर इस आधिपत्य के साथ बने रहते हैं कि उनकी उपस्थिति काल में अन्य भाव अथवा संचारी उनके शासन के भीतर प्रकट होते हैं और वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं। स्थायित्व का दूसरा चिह्न कि भाव कोश के रूप में विद्यमान भाव के कारण भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न भाव प्रकट होते रहें रति को छोड़कर आचार्यों के अन्य स्थायी भावों में परिलक्षित नहीं होता है। शुक्लजी की दृष्टि से रति भाव ही ऐसा है जो आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से तथा प्राचीन साहित्याचार्यों की दृष्टि से स्थायी कहला सकता है। इस रति के सम्बन्ध में भी उनकी धारणा यह है कि स्थायी भाव के रूप में जिस 'रति' का उल्लेख किया गया है वह वास्तव में कोई एक भाव नहीं जिसकी कोई विशेष अनुभूति किसी एक अवसर पर होती हो। यह तो एक प्रकार से भावकोश है किसी मूल भाव की स्थायी दशा है जिसका अधिक परिष्कृत रूप में हास के कारण पृथक नामकरण कर दिया गया है। उन्होंने 'रति' भाव कोश का मूल संस्थापक भाव 'राग' या 'लोभ' स्वीकार किया है। इस प्रकार उन्होंने स्थायी दशा के रूप से आचार्यों द्वारा प्रतिपादित स्थायी भावों में से केवल रति को ही स्वीकार किया है। अब आठ स्थायी भावों को मूलभावों के रूप में स्वीकार करके उनकी स्थायी दशाओं

को पृथक निर्दिष्ट कर लिया है। उनकी धारणा के अनुसार प्रत्येक भाव की स्थायी दशा नीचे लिखी जाती है—

भाव	स्थायी दशा	भाव	स्थायी दशा
राग	रति	क्रोध	वैर
हास	×	भय	आशंका
वात्सल्य	×	जुगुप्सा	विरति
शोक	संताप		

इन भावों की स्थायीदशा इतनी स्फुट नहीं होती कि उसके अस्तित्व की ओर ध्यान सहज चला जाए। जिस प्रकार रति, वैर और विरति नाम की स्थायी दशाएँ परिस्फुट हैं और अपने मूल भावों से पृथक विशिष्ट प्रतीत होती हैं उसी प्रकार शेष चार नहीं हैं अतएव मनोविज्ञानियों तथा आचार्यों द्वारा इनके नाम निर्दिष्ट नहीं हुए हैं। शोक और भय की स्थायी दशाओं का उल्लेख 'संताप' तथा 'आशंका' के नाम से शुक्लजी ने कर दिया है परन्तु हास और वात्सल्य को 'अनिर्देश्य' कहकर अनिर्दिष्ट ही रहने दिया है।

'उत्साह' के सम्बन्ध में शुक्लजी की धारणा है कि उसकी अन्य भावों के समान किसी एक आलम्बन के प्रति स्थायी दशा नहीं हो सकती। क्योंकि किसी कर्म के सम्पादन में आनन्दपूर्ण उमंग का नाम उत्साह होता है अतः किसी एक कर्म की विद्यमानता एक अवसर के आगे नहीं हो सकती। उत्साह के एक अवसर के उपरान्त दूसरे अवसर पर कर्म भी दूसरा हो जायगा। इसीलिए उत्साह की अनेकावसर व्यापी स्थापित्व होने पर, शील दशा तो हो सकेगी स्थायी दशा नहीं। उत्साह में आलम्बन और लक्ष्य स्थिर और परिस्फुट नहीं होते इसीसे मनोविज्ञानियों ने इसे प्रधान भावों की गिनती में नहीं रखा है। शुक्लजी ने इसे प्रधान भावों में तो स्थान दिया है परन्तु साहित्याचार्यों के अनुसार प्रतिपक्षी दानपात्र और दयापात्र को उत्साह का आलम्बन नहीं माना है। उनकी धारणा है कि उत्साह का सीधा लगाव किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ नहीं होता अतएव उत्साह के प्रति आलम्बन हो सकते हैं तो युद्ध दान तथा दया के कर्म ही हो सकते हैं। इस सम्बन्ध

में शुक्लजी की उक्ति विशेष उल्लेखनीय है—

"भाव आलम्बन प्रधान होता है, इसके अतिरिक्त प्रत्येक भाव एक ही आलम्बन के प्रति स्थायी दशा को प्राप्त हो सकता है जबकि ये बातें उत्साह में नहीं पाई जातीं वह मन का वेग मात्र है। फिर भी आचार्यों ने उसे प्रधान भावों की श्रेणी में केवल इसीलिए रखा है क्योंकि आश्रय या पात्र में उसकी व्यंजना द्वारा श्रोता या दर्शक को ऐसा विलक्षण रसानुभव होता है जो और रसों के समकक्ष है।"

शुक्लजी ने आठों प्रधान भावों की शील दशाओं के नामों का स्पष्ट रूप से निर्देशन किया है। प्रत्येक भाव की शील दशा निम्नलिखित रूप से निर्दिष्ट की गई है—

भाव	शील दशा	भाव	शील दशा
राग	स्नेहशीलता रसिकता	शोक	खिन्नता
	लोभ तृष्णा लोलुपता	क्रोध	क्रोधशीलता उग्रता चिड़चिड़ापन
हास	हँसोड़पन, विनोदशीलता	भय	भीरुता
उत्साह	वीरता, तत्परता	जुगुप्सा	तुनुकमिजाजी
आश्चर्य	भौचक्कापन		

शुक्लजी शील दशाओं के महत्व को बहुत बड़ा मानते हैं। उनकी धारणा है कि आलम्बन प्रधान मुख्य भावों में ही शील दशा की प्रतिष्ठा नहीं होती भाव दशा तक न पहुँचने वाले मन के वेगों और प्रवृत्तियों के चिराभ्यास से भी भिन्न-भिन्न शील दशाएँ मनुष्य की प्रकृति में प्रतिष्ठित होती हैं जैसे आलस्य से आलसीपन लज्जा से लज्जाशीलता अवहित्था से दुराव या छिपाव असूया से ईर्ष्यालु प्रकृति इत्यादि।

भावों का वर्गीकरण—भाव में अनुभूति मिली रहती है। यह अनुभूति दो प्रकार की होती है—सुखात्मक और दुःखात्मक। इसी अनुभूति के आधार पर उन्होंने भावों के दो वर्ग किये हैं।—प्रेम उत्साह श्रद्धा भक्ति कौतूहल हर्ष आदि सुखात्मक भाव हैं। शोक क्रोध भय घृणा लज्जा

उग्रता अमर्ष असूया विषाद इत्यादि दुःखात्मक भाव हैं। शुक्लजी ने 'आश्चर्य को सुख-दुःख दोनों से उदासीन नहीं माना है अपितु उसे सुखात्मक ही स्वीकार किया है। भारतीय आचार्यों ने भी हर्ष को अद्भुत रस का संचारी भाव माना है और आधुनिक मनोविज्ञानी ड्रेवर भी यही बात मानता है। ड्रेवर का कथन है कि आश्चर्य में अद्भुत वस्तु पर ध्यान जमता है वह उदासीन नहीं होता।

उक्त वर्गीकरण को प्रमुखता देते हुए शुक्लजी ने भारतीय आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित स्थायी-संचारी-व्यवस्था की समीक्षा की है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने क्रोध भय आनन्द और शोक को मूल भाव कहा है। इनमें से साहित्य के स्थायी भावों की गिनती में आनन्द को छोड़ सब आ गए हैं। शुक्लजी ने आनन्द के न रखे जाने का कारण स्पष्ट करते हुए लिखा है क्योंकि साहित्यिकों का सारा भाव निरूपण रस-विधान की दृष्टि से हुआ है, अतएव आनन्द को रस के प्रधान प्रवर्तक भावों में स्थान नहीं दिया जा सकता है। किसी के शोक में साथ देने के लिए मनुष्य मात्र का हृदय प्रकृति द्वारा विवश है परन्तु आनन्द में यह बात नहीं है। इसी प्रकार ईर्ष्या मनोविज्ञान की दृष्टि से विषयोन्मुख होने के कारण भाव (स्थायी) कोटि में लिया जा सकता है, परन्तु आचार्यों ने उसे भी स्थायी नहीं माना है। आचार्यों ने उन्हीं भावों को स्थायी भाव के रूप में लिया है जो व्यंजित होकर रस रूप हो सकते हैं अर्थात् सर्वजन-संवेद्य हो सकते हैं। शुक्लजी कहते हैं कि भावों के स्वरूप के भीतर वह वस्तु है जिसके अनुसार प्रधान और संचारी का विभाग हो जाता है। वह वस्तु है—आलम्बन। प्रधान भावों की गिनती में वे ही भाव रखे गए हैं जिनके आलम्बन 'सामान्य' हो सकते हैं। अन्य भाव या मनोवेग संचारियों की श्रेणी में डाले गए हैं क्योंकि उनमें से किसी-किसी के ही स्वतन्त्र विषय होने तो भी श्रोता या दर्शक का ध्यान उनकी ओर प्रवृत्त नहीं होगा। प्रधान या स्थायी रूप से परिगणित भाव ही ऐसी दशा को पहुँचते हैं जिसमें श्रोता या दर्शक भी आश्रय (पात्र) में उनकी विषय व्यंजना देख उनका अनुभव हृदय में करने लगते हैं और तदनुरूप

अनुभाव प्रकट करने लगते हैं।

इसके अतिरिक्त शुक्लजी ने भारतीय स्थायी-संचारी व्यवस्था के रहस्य को भी स्पष्ट करने का यत्न किया है। मनोविज्ञानी भी एक भाव के साथ अन्य भावों का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। यह कहा जा चुका है कि शैण्ड प्रत्येक भाव को एक प्रकार का व्यवस्था-चक्र मानते हैं क्योंकि इसके साथ शेष भावों का सम्बन्ध अव्यक्त रूप से लगा होता है। भारतीय स्थायी-संचारी व्यवस्था इस तथ्य का विरोध नहीं करती। यह भी एक प्रकार की सम्बन्ध-व्यवस्था ही है। दोनों में अन्तर यह है कि मनोवैज्ञानिकों की सम्बन्ध-व्यवस्था के अनुसार मूल भाव स्वप्रवर्तित अन्य भाव के प्रतीति काल में अपना स्वरूप विसर्जित कर देता है परन्तु साहित्यिकों की व्यवस्था के अनुसार मूल प्रवर्तक भाव का आभास प्रवर्तित भाव की प्रतीति काल में भी बना रहता है। जैसे रति के जो संचारी कहे गए हैं उनके प्रतीति काल में रति का आभास बना रहेगा। शुक्लजी इसीलिए इस व्यवस्था को अधिकार-व्यवस्था कहते हैं। यह स्पष्ट है कि वे भी मनोवैज्ञानिकों के अनुरूप संचारी भावों का सम्बद्ध भाव के रूप में ही देखते हैं।

भारतीय आचार्यों ने संचारियों का गौण तथा स्थायी भावों को प्रधान भाव के रूप में परिगणित किया है। किसी भाव को प्रधानता तभी मिल सकती है जब उसका आलम्बन पृथक् हो परन्तु ऐसा भी प्रायः होता है कि किसी प्रधान भाव से सम्बद्ध गौण भाव का विषय प्रधान भाव के आलम्बन से भिन्न होता है। उस अवस्था में यदि आश्रय का ध्यान मुख्यतः प्रधान भाव के आलम्बन की ओर रहता है तो वह सम्बद्ध भाव साहित्यिक परिभाषा में संचारी कहलाएगा और उसका विषय आलम्बन नहीं कहला सकता है। इस प्रकार प्रधान भाव का आलम्बन स्थिर रहता है। सम्बद्ध भावों का विषय स्थिरता से सम्मुख नहीं रहता है। अतएव वे गौण कहलाते हैं। भारतीय आचार्यों ने उन भावों को प्रधानता देकर स्थायी भावों में परिगणित कर दिया है जिन भावों का आलम्बन इस प्रकार अविचल रह सकता है। इन स्थायी भावों से सम्बद्ध होकर आने वाले भावों को संचारी भाव कह

दिया गया है, क्योंकि उनके प्राधिपत्य में इनकी प्रतीति होने के कारण इनके प्रालम्बन पृथक अस्तित्व या स्थायित्व प्राप्त नहीं कर पाते। ये तो अपने प्रवर्तक भाव को पुष्ट करने वाले होते हैं और अपने प्रतीतिकाल में भी अपने जनक भाव के प्रालम्बन से प्राश्रय का ध्यान नहीं हटाते। सारांश यह है कि शुक्लजी का मन्तव्य यही है कि किसी भाव को पुष्ट करने वाला मनोविकार ही संचारी हो सकता है और पुष्ट करने वाला मनोविकार वही होगा जो भाव के लक्ष्य और प्रवृत्ति से हटाने वाला न होगा। किसी मनोविकार को संचारी भाव मानने से पूर्व तीन बातों का ध्यान रखना अपेक्षित होता है—

१ उसका विषय वही हो जो प्रधान भाव का प्रालम्बन है और उसकी कोई अपनी गति या प्रवृत्ति न हो।

२ जब प्रधान भाव के प्रालम्बन से उसका विषय भिन्न हो तो उसकी अपनी गति या प्रवृत्ति न हो और वह स्वयं ऐसा हो कि प्रधान भाव के साथ उसका कोई रूपान्तर लगा रहता हो।

३ जब उसकी गति या प्रवृत्ति वही हो जो प्रधान भाव की है।

इसी आधार पर शुक्लजी कहते हैं कि स्थायी भावों में परिगणित एक भाव भी दूसरे प्रधान भाव का संचारी होकर आ सकता है। जैसे रति और उत्साह में हास, युद्धोत्साह में क्रोध। इसी प्रकार हास और आश्चर्य अपनी स्वतन्त्र गति या प्रवृत्ति न होने के कारण शृंगार के संचारी होकर आ सकते हैं।

स्थायी और संचारी का एक और रूप भी लिया जा सकता है। किसी काव्य या नाटक में आदि से अन्त तक जो भाव विद्यमान रहे, बीच-बीच में अन्य भावों के व्यंजित होते रहने पर वह निरन्तर अव्यवहित रूप से झलकता रहे तो उसे स्थायी भाव कहा जा सकता है। इसी प्रकार जिन भावों की व्यंजना बीच-बीच में क्षणिक रूप से होती रहेगी और जिनसे प्रधान भाव के प्रसार में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी वे संचारी कहला सकेंगे। स्थायी संचारी की यह व्याख्या ठीक ही मानी जाएगी।

संचारियों के भेद तथा वर्गीकरण—शुक्लजी ने संचारियों के भेद तथा वर्गीकरण पर भी अपनी धारणाओं को स्पष्ट किया है। भारतीय आचार्यों ने तैंतीस संचारी माने हैं। वे इनको उपलक्षण मात्र मानते हैं। वे कहते हैं कि संचारी और भी हो सकते हैं। उन्होंने छत्तालीस संचारी परिगणित किये हैं। इन छत्तालीस संचारियों के उन्होंने विरोध-अविरोध के विचार से चार भेद—सुखात्मक दुःखात्मक उभयात्मक और उदासीन प्रतिपादित किये हैं। सुखात्मक भावों के साथ दुःखात्मक संचारी दुःखात्मक भावों के साथ सुखात्मक संचारी विरोधी संचारी कहलायेंगे इसी प्रकार सुखात्मक भावों के साथ सुखात्मक और दुःखात्मक भावों के साथ दुःखात्मक संचारी अविरोधी होंगे। सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के भावों के साथ आने वाले संचारी उभयात्मक और तटस्थता एवं निरपेक्षता से आने वाले संचारी उदासीन माने जायेंगे।

भावों का परस्पर यह विरोध आश्रयगत या विषयगत विरोध नहीं है अपितु आलंबनगत विरोध ही है क्योंकि आश्रयगत या विषयगत विरोध होने पर कोई भाव संचारी बन ही नहीं सकता है। जैसे क्रोध के आलम्बन के प्रति बीच-बीच में प्रेम या दया का प्रकाशन नहीं हो सकता है। सुखात्मक भाव के साथ विजातीय दुःखात्मक भाव तो संचारी रूप में आ सकता है, परन्तु आलम्बनगत विरोध होने पर—जैसे क्रोध का आलम्बन और दया का आलम्बन परस्पर विरोधी है—संचारी अवस्था सिद्ध नहीं हो सकती।

छत्तालीस संचारियों को निम्नलिखित रूप से चार भेदों में शुक्लजी ने विभक्त किया है—

सुखात्मक	दुःखात्मक	उभयात्मक	उदासीन
गर्व औत्सुक्य	लज्जा असूया	आवेग स्मृति	वितर्क मति श्रम
हर्ष माया मद	अमर्ष अवहित्था	विस्मृति दैन्य	निद्रा विबोध
सन्तोष चपलता	त्रास विषाद	जड़ता स्वप्न	
मृदुता धृति	शंका चिन्ता	निर्वेद	

लिया गया है, क्योंकि उनके सान्निध्य में इनकी प्रतीति होने के कारण उनके आलम्बन पृथक् अस्तित्व या स्वामित्व प्राप्त नहीं कर पाते। वे तो अपने प्रवर्तक भाव को पुष्ट करने वाले होते हैं और अपने प्रतीतिकाल में भी अपने जनक भाव के आलम्बन से आश्रय का ध्यान नहीं हटाते। तात्पर्य यह है कि शुक्लजी का मन्तव्य यही है कि किसी भाव को पुष्ट करने वाला मनोविकार ही संचारी हो सकता है और पुष्ट करने वाला मनोविकार वही होगा जो भाव के लक्ष्य और प्रवृत्ति से हटाने वाला न होगा। किसी मनोविकार को संचारी भाव मानने से पूर्व तीन बातों का ध्यान रखना अपेक्षित होता है—

१ उसका विषय वही हो जो प्रधान भाव का आलम्बन है और उसकी कोई अपनी गति या प्रवृत्ति न हो।

२ जब प्रधान भाव के आलम्बन से उसका विषय भिन्न हो तो उसकी अपनी गति या प्रवृत्ति न हो और वह स्वयं ऐसा हो कि प्रधान भाव के साथ उसका कोई रूपान्तर बना रहता हो।

३ जब उसकी गति या प्रवृत्ति वही हो जो प्रधान भाव की है।

इसी आधार पर शुक्लजी कहते हैं कि स्थायी भावों में परिगणित एक भाव भी दूसरे प्रधान भाव का संचारी होकर आ सकता है। जैसे रति और उत्साह में हास, युद्धोत्साह में क्रोध। इसी प्रकार हास और आश्चर्य अपनी स्वतन्त्र गति या प्रवृत्ति न होने के कारण शृंगार के संचारी होकर आ सकते हैं।

स्थायी और संचारी का एक और अर्थ भी लिया जा सकता है। किसी काव्य या नाटक में आदि से अन्त तक जो भाव विद्यमान रहे, बीच-बीच में अन्य भावों के व्यंजित होते रहने पर वह निरन्तर अव्यवहित रूप से अभिव्यक्त रहे तो उसे स्थायी भाव कहा जा सकता है। इसी प्रकार जिन भावों की अवगति बीच-बीच में क्षणिक रूप में होती रहेगी और उनसे प्रधान भाव के प्रसार में कोई बाधा उपस्थित नहीं होगी वे संचारी कहला सकेंगे। स्थायी संचारी की यह व्याख्या गौण ही मानी जाएगी।

मोह अलसता
उन्माद असन्तोष
ग्लानि अपस्मार,
मरण व्याधि

उक्त सूची का यदि प्राचीन तैंतीस संचारियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो यह पता चलेगा कि इस सूची में पचीस पुराने संचारी ग्रहण करके उन्होंने आठ संचारियों का निर्देश किया है। आशा नैराश्य सन्तोष असन्तोष विस्मृति और मुमुक्षता ये उनके द्वारा प्रतिपादित नए संचारी हैं। वे कहते हैं कि इन संचारियों में स्वतन्त्र विषययुक्त और लक्ष्य युक्त मनोविकार और मन में क्षणिक वेगों के साथ मानसिक तथा शारीरिक अवस्थाएँ और अन्तःकरण की अन्यवृत्तियाँ भी सम्मिलित कर ली गई हैं। इसी धारणा के आधार पर उन्होंने संचारियों के पाँच वर्ग निर्दिष्ट किये हैं—

'संचारियों का वर्गीकरण'

स्वतन्त्र विषय युक्त भाव	मन के वेग	अन्य अन्तःकरण वृत्ति	मानसिक अवस्था	शारीरिक अवस्था
गर्व लज्जा	आवेग अमर्ष	शंका स्मृति	दैन्य मद	श्रम मद
असूया	अवहित्था	मति चिन्ता,	जड़ता चपलता	स्मार, मरण
	औत्सुक्य त्रास	वितर्क आशा	मोह, स्वप्न	निद्रा विबोध,
	हर्ष विषाद	नैराश्य	अलसता	व्याधि
		विस्मृति	उन्माद सन्तोष	
			चपलता निर्वेद	
			मुमुक्षता धैर्य	
			असन्तोष	
			ग्लानि	

स्वतन्त्र विषययुक्त भाव—गर्व लज्जा तथा असूया ये स्वतन्त्र विषय वाले मनोविकार हैं परन्तु इनके विषय आलम्बन नहीं कहला सकते क्योंकि

नुभूति काल में इनके विषयों की ओर उतना ध्यान नहीं जाता जितना इनके कारणों की ओर रहता है। आश्रय का ध्यान तो विषय पर थोड़ा-बहुत रहता परन्तु साहित्य वर्णन में श्रोता या पाठक का ध्यान कुछ भी नहीं रहता। सी लज्जा के वर्णन में उसके कारण बुराई की ओर श्रोता या पाठक का ध्यान रहेगा उसके विषय रूप व्यक्ति की ओर नहीं जायेगा जिसे सामने कर आश्रय लज्जा की अनुभूति कर रहा है। इसके अतिरिक्त गर्व और लज्जा के कारण विषय में नहीं रहते परन्तु स्वयं आश्रय में रहते हैं। इसी आधार पर मनोविज्ञानियों ने गर्व को ममत्व (Selflove) रूप में आत्म पर स्थायी भाव बना दिया है। शुक्लजी की व्यवस्था के अनुसार गर्व शील दशा को ही प्राप्त पाया जाता है।

मन के वेग—संचारियों का दूसरा वर्ग मनोवेगों का है। उसमें आवेग अमर्ष अवहित्था औत्सुक्य त्रास हर्ष विषाद आते हैं। ये मूल भावों के अवयव मात्र हैं और आलम्बन-निरपेक्ष हैं। ये अधिकतर किसी भाव के कारण उत्पन्न होकर उसी के अन्तर्गत उद्भूत और विलीन होते हैं। शुक्ल जी की धारणा है कि अमर्ष त्रास और विषाद क्रमशः क्रोध भय और शोक के वेगरूप अवयव हैं। साहित्याचार्यों ने इनकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति देखकर इन्हें भी संचारियों में गिन लिया है। मूल भावों तथा इनके अवयवों के अनुभावों को पृथक किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि अवयवों के उदय काल के अनुभाव तो सात्त्विक होंगे और भाव के उदय हो जाने पर अनुभाव कायिक रूप होंगे। संचारी रूप में इन अवयवों के जो बाह्य चिह्न काव्यशास्त्र में वर्णित हैं वे एक प्रकार से क्रोध आदि मूल भावों के ही हैं।

अन्तःकरण वृत्तियाँ—तीसरे वर्ग के स्मृति चिन्ता वितर्क मति आदि संचारी मन के वेग नहीं हैं अपितु धारणा-बुद्धि के व्यापार हैं। शुक्ल जी का सिद्धान्त यह है कि इनका प्रकृत भाव प्रतीत होने की स्थिति में ही हो सकता है। जब इनका प्रत्येक भाव प्रधान रूप में स्फुट होता तब श्रोता आदि का ध्यान भाव पर रहेगा बल्कि न उनके व्यापारों के विषयों पर नहीं।

अन्तःकरण की ये वृत्तियाँ यदि काव्य में व्यंजित भाव की सत्ता के भीतर दिखाई पड़ेंगी तो वे काव्य के लिए उपयोगी मानी जाएँगी।

दूसरी बात इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने के योग्य है कि धारणा बुद्धि के ये व्यापार भाव की स्थायी दशा में ही होते हैं भाव दशा में अर्थात् स्मृति चिन्ता वितर्क मति ये चारों वृत्तियाँ यदि संचारी होकर आएँगी तो बोध की भावदशा में नहीं अपितु वैर भावक उसकी स्थायी दशा में ही आएँगी। इस वर्ग के संचारियों में आस्था वैराग्य और विस्मृत ये तीन नए संचारी शुक्लजी द्वारा निर्दिष्ट किये गए हैं। उनका कथन है कि जब भय-भेद युक्त श्रद्धा को 'भक्ति' नाम से संचारी माना गया है तो हर्ष-भेद युक्त श्रद्धा 'आस्था' और विषाद-भेद युक्त श्रद्धा वैराग्य को भी संचारी माना जा सकता है। इसी प्रकार स्मृति के अनुरूप विस्मृति को भी संचारी मानना चाहिए।

मानसिक अवस्था—संचारियों के चौथे वर्ग में दैन्य मद, जड़ता चपलता मोह स्वप्न अपस्मार उन्माद सन्तोष चपलता निर्वेद मृदुलता धैर्य असन्तोष ग्लानि ये मानसिक अवस्थाएँ आती हैं। ये दो प्रकार की होती हैं—प्रकृतिगत और आगन्तुक। मानसिक अवस्थाओं के मूल में भाव ही कारण होते हैं। जब किसी भाव के कारण उत्पन्न होने वाली कोई मानसिक अवस्था स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाती है तब वह अपने अभिव्यक्ति काल में अपने मूल भाव से स्वतन्त्र परिलक्षित होने लगती है। इस प्रकार की प्रकृतिगत मानसिक अवस्था को संचारी रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता है। हाँ प्रकृतिगत अवस्थाएँ चरित्र-चित्रण की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण होती हैं और इनको आश्रय में पीन दशा में देखकर श्रोता व दर्शक के अन्तःकरण में प्रवृत्ति और निवृत्ति की उत्तेजना उत्पन्न हो सकती है। अतः आगन्तुक रूप में ही ये अवस्थाएँ संचारी मानी जाएँगी क्योंकि इसी रूप में उनका किसी भाव के कारण प्रकट होना स्पष्ट रहता है। शुक्लजी कहते हैं कि भावों के प्रत्यक्ष सम्बन्ध से संचारियों के रूप में इन मानसिक अवस्थाओं की जहाँ अभिव्यक्ति होती है वहाँ उनमें प्रधान भावों के प्रभाव से बहुत कुछ भेद आ जाता है। जैसे भय के कारण दैन्य प्रकट हो जाएगा। ऐसे स्थल

पर ध्यान प्रधानतः भय की ओर ही रहेगा दैन्य की ओर नहीं।

'मद' के सम्बन्ध में शुक्लजी का ध्यान उसके 'गर्व' के संचारी रूप पर भी गया है। सामान्यतः साहित्य में 'रति' के संचारी रूप में ही 'मद' के उदाहरण मिलते हैं।

मानसिक स्तम्भ को ही 'जड़ता' के नाम से संचारियों में स्थान दिया जा सकता है। शारीरिक स्तम्भ तो सात्विक अनुभाव मात्र है। मानसिक अवस्थाएँ मूल्य होती हैं अनुभाव सूचक होते हैं। अतः 'जड़ता' से शारीरिक स्तम्भ का अर्थ संचारियों के प्रसंग में नहीं लिया जा सकता है। शुक्लजी ने 'जड़ता' के हलके रूप 'बुद्धिमान्द्य' की चर्चा की है परन्तु उसकी तीव्र दशा को ही काव्य के लिए उपयोगी माना है। उस रूप में वह 'हास्य' के आलम्बन की रूप योजना में उपयुक्त सिद्ध किया जा सकता है।

मानसिक अवस्थाओं में शुक्लजी ने उग्रता के सादृश्य पर मृदुलता नामक नया संचारी माना है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार 'उग्रता' से क्रोध भय या विषाद का संचार किया जाता है उसी प्रकार मृदुलता का व्यवहार किया जाता है उसके हृदय में व्यवहार करने वाले के प्रति श्रद्धा-भक्ति का संचार होता है। उनकी धारणा के अनुसार शृंगार और करुण रसों में मृदुलता संचारी होकर आ सकती है। प्रिय और मधुर वचन इसके अनुभाव हो सकते हैं।

'स्वप्न' संचारी के सम्बन्ध में शुक्लजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि रति भाव भय इत्यादि में केवल उसी का स्वप्न में देखना संचारी होगा जिसमें रति या भय हो अथवा जिस पर क्रोध हो अर्थात् स्वप्न का अपना कोई स्वतन्त्र विषय प्रधान भाव के आलम्बन से भिन्न नहीं हो सकता है।

'अलसता' संचारी का शास्त्रीय लक्षण शुक्लजी की दृष्टि में ठीक नहीं क्योंकि संचारी का भाव के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध—सीधा लगाव—अत्यन्त आवश्यक है। शारीरिक या मानसिक क्रिया में तत्पर न होने की प्रवृत्ति की अवस्था का नाम ही अलसता है। इसका मूल कारण शारीरिक या मानसिक श्रम ही हो सकता है। शुक्लजी की धारणा है कि जिस क्रिया या व्यापार

से शारीरिक श्रम हुआ है उसे तो भाव प्रेरित या भाव का श्रम माना जा सकता है परन्तु श्रम को और उससे उत्पन्न होने वाले आलस्य को भाव प्रेरित संचारी नहीं कहा जा सकता है अतः उनकी दृष्टि में आलस्य को शृंगार और हास्य का संचारी मानना ठीक नहीं उसे स्वतन्त्र मानना चाहिए।

ग्लानि का प्राचीन साहित्यिक लक्षण भी शुक्लजी की दृष्टि में ठीक नहीं है। इसमें परिश्रम भूख प्यास आदि से उत्पन्न शारीरिक शैथिल्य को भी 'ग्लानि' का लक्षण कहा गया है। वास्तव में किसी भाव के वेग के कारण जो मानसिक शैथिल्य होता है उसे ही 'ग्लानि' कहना चाहिए। इसलिए वे दुःख और मनस्ताप से उत्पन्न शिथिलता को ही संचारी स्वीकार करना चाहते हैं। इसी कारण उन्होंने 'ग्लानि' को शारीरिक अवस्था में न रखकर मानसिक अवस्था में रखा है।

इसी प्रकार 'धृति' का लक्षण भी उन्हें अस्पष्ट प्रतीत हुआ है। साहित्य दर्पण के लक्षण के अनुसार सन्तोष या तुष्टि ही का नाम 'धृति' प्रतीत होता है। अतः स्पष्टता के लिए उन्होंने धृति के स्थान पर 'धैर्य' संचारी माना है। हिन्दी के आचार्यों ने भी इसी रूप में 'धृति' को ग्रहण किया है। प्राचीन साहित्य शास्त्रों में नायक के गुणों में 'धैर्य' का जो लक्षण किया गया है शुक्लजी उसी अर्थ को लेकर 'धैर्य' को संचारी मानते हैं। वीर रस में 'धैर्य' संचारी होकर आ सकता है। वे धैर्य के समान 'अधैर्य' को भी संचारी मानने का संकेत करते हैं और समझते हैं कि काव्य में 'अधैर्य' के भी उत्तम उदाहरण मिल सकते हैं।

'सन्तोष' को पृथक् संचारी माना गया है। इष्ट की प्राप्ति से इष्ट की पूर्ति के अनुभव को 'सन्तोष' माना जा सकता है। शुक्लजी इस भाव से प्राप्त सन्तोष को संचारी नहीं मानना चाहते हैं। वे सन्तोष के सादृश्य से 'असन्तोष' को भी संचारी मानने के पक्ष में हैं और काव्य से उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं। शृंगार में यह असन्तोष संचारी विशेष रोचक रूप में वर्णित किया जा सकता है।

शारीरिक अवस्था—संचारियों का पाँचवाँ वर्ग श्रम, अपस्मार, मरण, निद्रा, विबोध तथा व्याधि नामक शारीरिक अवस्थाओं का है। शारीरिक अवस्थाएँ प्राकृतिक कारणों से भी उपस्थित हो सकती हैं। साहित्य में केवल ऐसी ही शारीरिक अवस्थाओं को संचारी रूप से ग्रहण किया जा सकता है जो भाव के प्रभाव से उपस्थित हुई हों।

शुक्लजी ने 'श्रम' का अर्थ व्यापाराधिक्य या किसी क्रिया का निरन्तर साधन ही लिया है और इसी अर्थ में श्रम को संचारियों में गिना है। साहित्य दर्पण के लक्षण के अनुसार 'श्रम' का अर्थ व्यापाराधिक्य या किसी क्रिया के निरन्तर साधन से उत्पन्न अंग-ग्लानि या थकावट लिया है। वे सामान्यतः इस प्रकार से उत्पन्न अंग ग्लानि को संचारी नहीं मानना चाहते। वे तो केवल उसी अंग ग्लानि को संचारी कहते हैं जिसका भाव के साथ सीधा सम्बन्ध हो। कायिक अनुभाव शारीरिक क्रिया या व्यापार के रूप में ही होते हैं और वे अनुभाव भी भाव के अंग रूप माने जाते हैं अतः उनसे उत्पन्न 'अंग ग्लानि' को संचारी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। जैसे बार-बार के आलिंगन से, अन्य चालन से उत्पन्न थकावट। इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि भाव की स्थायी दशा में आने में लगना आदि जो प्रयत्न किए जाएँगे उनसे उत्पन्न श्रम ग्लानि संचारी नहीं होगी। हाँ इसका स्वतन्त्र वर्णन सौकुमार्य आदि का सूचक होकर रोचक बन सकता है।

'निद्रा' 'विबोध' अधिकतर शरीरधर्म के रूप में ही दिखाई पड़ते हैं इसी से इन्हें विशेषतया शारीरिक अवस्थाओं में परिगणित किया गया है। यह ध्यान रहे कि निद्रा, विबोध, श्रम, व्याधि, अपस्मार तभी संचारी होंगे जब किसी भाव के कारण हों अन्यथा नहीं। संचारियों के सम्बन्ध में यह बात भी उल्लेखनीय है कि कभी-कभी वे प्रधान होकर भी आते हैं। यह प्रधानता दो प्रकार की हो सकती है—१ कभी प्रधान भाव के स्फुट न होने से संचारी प्रधान प्रतीत होने लगता है और कभी प्रधान भाव के स्पष्ट होने पर वह उसके ऊपर प्रधान रूप से प्रतीत होता है। २ कभी नियत प्रधान भाव उसका संचारी बनकर आता है। जैसे कोप 'असूया' का

संचारी होकर आ सकता है, जुगुप्सा 'गर्व' का।

कोई भाव अपनी 'भाव दशा' में है या स्थायी दशा में है इसका निर्णय भी संचारियों से हो जाता है। भावदशा में सुखात्मक भाव का संचारी सुखात्मक और दुःखात्मक का दुःखात्मक होगा पर स्थायी दशा में यह बात नहीं रहती। स्थायी दशा प्राप्त हो जाने पर मूल भाव को सजातीय या विजातीय अन्य कोई भाव संचारी रूप में आकर तिरोहित नहीं कर सकता है।

अनुभाव—शुक्लजी ने भाव का जो लक्षण किया है उसके अनुसार अनुभाव भाव का ही एक अंग है। भाव का जो अंग आकृति या आचरण में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जाता है वह अनुभाव कहलाता है। प्रत्येक भाव की अपनी प्रवृत्ति होती है। अनुभाव द्वारा उसी प्रवृत्ति का पता चलता है। अनुभावों के सम्बन्ध में यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि 'अनुभाव' भाव के ही हुआ करते हैं भाव की स्थायी दशा के नहीं अर्थात् यदि 'अनुभाव' प्रकट होंगे तो किसी भाव या उसके संचारी के प्रतीति काल में ही होंगे।

प्राचीन साहित्याचार्यों की ही भांति शुक्लजी ने भी कायिक और सात्विक भेद से दो प्रकार के अनुभाव माने हैं और उनके लिए ऐच्छिक और अनैच्छिक शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार शृंगार, हास्य करुण रौद्र वीर भयानक बीभत्स अद्भुत रसों के अनुभाव भी सामान्यतः प्राचीन साहित्य ग्रन्थों के आधार पर ही वर्णित किए हैं।

विभाव—भाव को शुक्लजी आलम्बन प्रधान मानते हैं। इनके भाव लक्षण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भाव का एक अंग वह है जो विषय-बिम्ब के रूप में चेतना में रहता है और भाव का प्रत्यक्ष स्वरूप है। आलम्बन की भावना इसी प्रत्यक्ष स्वरूप को प्रतिष्ठित करती है। इसीलिए आलम्बन का काव्यगत वर्णन ही विभाव है। वे कहते हैं—'भाव से अभिप्राय संवेदना के स्वरूप की व्यंजना से है। विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या

सुविधा होती है।

शुक्लजी काव्य में विभाव को ही प्रमुखता प्रदान करते हैं और कहते हैं कि कवि-कर्म-विधान के दो पक्ष होते हैं—विभाव और भावपक्ष। कवि भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण करके ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठा दें और उठे हुए भाव को और तीव्र करने में समर्थ हों। इस प्रकार वह अपने कर्म के विभाव पक्ष की प्रतिष्ठा कर लेता है। भाव पक्ष की प्रतिष्ठा के लिए उन वर्णित वस्तुओं के अनुरूप भावों के व्यंजक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है। उनकी दृष्टि में ये दोनों पक्ष अन्योन्याश्रित हैं। जहाँ एक ही पक्ष का वर्णन रहता है वहाँ भी दूसरा पक्ष अव्यक्त रूप से रहता है।

विभाव पक्ष के अन्तर्गत दो पक्ष होते हैं—१ आलम्बन (भाव का विषय) २ आश्रय (भाव का अनुभव करने वाला) प्रथम पक्ष में चेतन अचेतन जगत् के सभी पदार्थ आ सकते हैं अर्थात् मनुष्य से लेकर कीट-पतंग जीव-जन्तु वृक्ष नदी पर्वत आदि जड़ प्रकृति के पदार्थ आलम्बन रूप से काव्य में ग्रहण किये जा सकते हैं परन्तु दूसरे पक्ष में अर्थात् आश्रय के रूप में केवल चेतन एवं हृदय-सम्पन्न मनुष्य ही आ सकता है। दोनों ही पक्षों का पूर्ण यथातथ्य स्वरूप प्रतिष्ठित करना अर्थात् बिम्बग्रहण कराना कवि का अनिवार्य कर्तव्य माना जाता है।

प्राचीन आचार्यों ने जड़ प्राकृतिक पदार्थों को आलम्बन स्वीकार नहीं किया है। वे वन-उपवन ऋतु सौन्दर्य का वर्णन काव्य निर्माण में उपयोगी अवश्य मानते हैं, परन्तु केवल नायक-नायिकाओं का हँसाने या रुलाने के लिए अर्थात् उनके भावों को उद्दीप्त एवं उत्तेजित करने के लिए ही उनको वे काव्य में स्थान देना चाहते हैं। शुक्लजी इस बात से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि प्राकृतिक पदार्थ केवल उद्दीपन मात्र नहीं हैं वे केवल अंग रूप न ही हमारे भावों के आलम्बन नहीं हैं। वे स्वतन्त्र रूप से भी हमारे आलम्बन हो सकते हैं। उनकी धारणा है कि प्राकृतिक दृश्यों व पदार्थों के प्रति

मानव-हृदय में साहचर्य के प्रभाव से प्रेम की वासना या संस्कार विद्यमान है। उनके दर्शन से या काव्य में उनके प्रदर्शन से मानव की भीतरी प्रकृति का अनुरञ्जन होता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस अनुरञ्जन को केवल दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटना है। प्राचीन संस्कृत कवियों ने जो संश्लिष्ट चित्रण द्वारा प्राकृतिक पदार्थों का बिम्ब ग्रहण कराने का यत्न किया है वह केवल उद्दीपन भावना से नहीं किया है। उनके ये वर्णन आलम्बन की परिस्थिति को अंकित करने वाले हैं। इनके बिना आश्रय और आलम्बन शून्य में खड़े मालूम होते हैं।

शुक्लजी परिस्थिति को जीवन का आलम्बन कहते हैं और परम्परा से यह मानव के भावों का आलम्बन बन जाती है। इसी परिस्थिति में काव्य के पात्रों को देखकर दर्शक व पाठक का अनुरञ्जन होता है। अतः यह स्पष्ट है कि प्राकृतिक पदार्थ किसी भाव के अंग बन कर भी आ सकते हैं और स्वतन्त्र रूप में आलम्बन भी हो सकते हैं। शुक्लजी की धारणा के अनुसार वन पर्वत नदी निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रतिभाव के स्वतन्त्र आलम्बन हैं उनमें सहृदयों के लिए सहज आकर्षण विद्यमान है। उनमें मानव की अन्तर् वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं। आलम्बन भाव के विशद वर्णन से श्रोता में भावानुभूति उत्पन्न की जा सकती है अर्थात् पाठक व श्रोता में कवि के अन्तःकरण में विद्यमान प्रकृति प्रेम का इस वर्णन के द्वारा अपने हृदय में संचरित होना अनुभव कर सकते हैं अतएव उन्हें आलम्बन रूप से स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

विभाव का दूसरा भेद उद्दीपन होता है। शुक्लजी इसके दो भेद मानते हैं—एक आलम्बनगत और दूसरा आलम्बन बाह्य। आलम्बन की चेष्टाएँ आलम्बनगत उद्दीपन विभाव होगा और आलम्बन की परिस्थितियाँ तथा पारस्पर्श वातावरण आलम्बनबाह्य उद्दीपन कहलाएगा।

भाव का रसवत् ग्रहण—भावों का रसवत् ग्रहण भी हो सकता है अर्थात् भावों की रस दशा भी होती है। लोक हृदय में किसीके हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है। शुक्लजी हृदय की मुक्तावस्था को

रस दशा कहते हैं। जब कोई व्यक्ति पृथक सत्ता को लोक सामान्य सत्ता में विलीन करके अपने स्वार्थ सम्बन्धों से रहित होकर जगत के नाना रूपों और व्यापारों को देखता है तब उसका हृदय मुक्त कहलाता है। इसी मुक्तावस्था में जब वह जगत् और जीवन के उन रूपों-व्यापारों के प्रति किसी भाव की अनुभूति करता है तब वह रस रूप होती है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति हो सकती है। कवि हृदय की इस मुक्तावस्था में आकर जब अपने काव्य का निर्माण करता है तब काव्य जगत् के अनेक रूप-व्यापार और उनके प्रति काव्य के पात्रों की विभिन्न अनुभूतियों के दर्शन व श्रवण से पाठक, दर्शक व श्रोता का हृदय भी मुक्तावस्था में पहुँच जाता है। वह भी अपने स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित घेरे से बाहर निकलकर लोक सामान्य भाव भूमि पर विचरने लगता है। उसके हृदय में काव्य जगत् की नाना-गतियों व रूपों का साक्षात्कार करके शुद्ध अनुभूति का संचार होने लगता है। उसे अपनी पृथक सत्ता का भान नहीं होता है। इसे ही शुक्लजी भाव का रसवत् ग्रहण या भाव की रस दशा स्वीकार करते हैं।

रस—इसके प्राचीन लक्षण का निरूपण भी शुक्लजी ने किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने साहित्य-दर्पण के रस-लक्षण को अपना आधार बनाया है। साहित्य-दर्पण में रस का लक्षण है—"सहृदय पुरुषों के हृदय में वासना रूप से स्थित रति आदि स्थायीभाव ही विभाव अनुभाव और संचारी के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते हैं।

उक्त लक्षण की व्याख्या करते हुए शुक्लजी कहते हैं—"इससे स्पष्ट है कि सहृदय पुरुषों के हृदय में प्रसुप्त भाव ही रस का रूप धारण करते हैं। जब वे विभावादि के द्वारा व्यंजित किये जाते हैं। किसी के हृदय में भाव का स्पन्दन होना वस्तुतः उस भाव की अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए इस बात को हम और स्पष्ट रूप में यों कह सकते हैं कि विभाव अनुभाव और संचारी भाव के प्रदर्शन द्वारा भाव की अनुभूति श्रोता या दर्शक के हृदय में रस रूप में उत्पन्न होती है।

शुक्लजी ने प्राचीन आचार्यों के समान रसानुभूति की व्याख्या के लिए

किसी दर्शन शास्त्र को अपने मन्तव्य का आधार नहीं बनाया है। उन्होंने दर्शन शास्त्र की किसी जटिल प्रक्रिया को भी स्वीकार नहीं किया है। वे सीधे शब्दों में विभाव-अनुभाव के संयोग से रस की उत्पत्ति मानते हैं और दध्यादि न्याय से इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने का यत्न करते हैं। जैसे दूध और जामन के मिश्रण से दही उत्पन्न होता है उसी प्रकार विभाव और अनुभाव के संयोग से रस उत्पन्न होता है। रस उनकी दृष्टि में अनुभूति है अनुभूति का विषय नहीं।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में वर्णित रस सूत्र में भी 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन शब्दों के अर्थ को आधार बनाकर भट्ट लोल्लट ने उत्पत्तिवाद, भट्ट शंकुक ने अनुमितिवाद, भट्टनायक ने भुक्तिवाद और अभिनवगुप्त ने अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की है। शुक्लजी ने इन आचार्यों में से किसी एक के वाद का अन्धानुसरण नहीं किया है अपितु स्वतन्त्र रूप से अपने पक्ष की उद्भावना की है। यह स्पष्ट है कि शुक्लजी भी भट्ट लोल्लट के समान रस की उत्पत्ति मानते हैं। भट्टलोल्लट का कार्य कारण भाव या उत्पाद्य-उत्पादक भाव भी किसी प्रकार दूध-दही के दृष्टान्त में प्रदर्शित किया जा सकता है परन्तु वे रस की स्थिति भट्टलोल्लट के अनुसार अनुकार्य में न मानकर श्रोता या दर्शक हृदय में स्वीकार करते हैं। विभाव-अनुभाव श्रोता के मन में ज्ञान रूप से उपस्थित रहते हैं। इसी ज्ञान से रस नामक अनुभूति उत्पन्न होती है। भट्टनायक के भुक्तिवाद और अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद में भी रस की स्थिति दर्शक या श्रोता में ही मानी गई है। इस दृष्टि से शुक्लजी उक्त दोनों आचार्यों के समर्थक कहे जा सकते हैं फिर भी वे रस की 'भुक्ति' या 'अभिव्यक्ति' नहीं कहते 'उत्पत्ति' कहते हैं। उनके रस-सिद्धान्त में प्रकारान्तर से भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त की धारणाओं का सम्मिश्रण नवीन रूप धारण करके आया है। भट्टनायक की अभिधावृत्ति का स्पष्टतः उल्लेख उन्होंने नहीं किया है, परन्तु विभाव-अनुभाव के ज्ञान से ही रस की उत्पत्ति मानी है। दूसरी ओर अभिनवगुप्त के समान वासना रूप से श्रोता व दर्शक में भाव की

स्थिति मानते हैं। शुक्ल जी भाव की अभिव्यक्ति से भाव की अनुभूति का ही अर्थ लेते हैं। वे रस प्रक्रिया में 'अभिव्यक्ति' शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहते हैं क्योंकि अभिव्यक्ति के मूल में व्यंजना का व्यापार होता है और व्यंजना का शाब्दिक अर्थ होता है 'प्रकट करना'। प्रकट वही वस्तु होती है जो प्रकट होने के पूर्व विद्यमान रहती है। अभिव्यक्ति या अनुभूति के पूर्व रस की सत्ता नहीं होती तो फिर उसकी व्यंजना द्वारा अभिव्यक्ति सम्भव नहीं हो सकती। अतः रस-प्रक्रिया में 'प्रकट करना' का अर्थ केवल अनुभूति उत्पन्न करना ही माना जा सकता है। वस्तुतः रस उत्पन्न होता है ज्ञान नहीं करवाया जाता है। प्राचीन उत्पत्तिवाद पर यह आक्षेप किया जाता है कि रस न तो ज्ञाप्य है न कार्य वह तो भोग्य या व्यंग्य है। शुक्लजी रस को ज्ञाप्य नहीं मानते हैं। इसी कारण वे व्यक्तिविवेककार महिम भट्ट के इस तर्क को रस प्रक्रिया में ग्रहण नहीं करते क्योंकि कारण से कार्य का अनुमान होता है इसीलिए विभाव-अनुभाव और संचारी कारणों से रत्यादि का अनुमान होता है जिससे रस की निष्पत्ति होती है। वे रस को अनुमेय नहीं मानते क्योंकि केवल भाव की सत्ता के ज्ञान से रस सर्वथा पृथक् है। रस को कार्य मानने में उन्हें कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। वे कहते हैं कि रस के कार्यत्व के सम्बन्ध में जो आपत्ति उठाई गई है वह आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से ग्राह्य नहीं है। इस आपत्ति का मूल है न्याय दर्शन का यह सिद्धान्त कि युगपत् ज्ञान असम्भव है अर्थात् कारण और कार्य का साथ-साथ ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि रस को कार्य मानें तो विभाव आदि कारणों की प्रतीति के अनन्तर ही रस कार्य की अनुभूति माननी पड़ेगी। रसानुभूति में ऐसा क्रम तो लक्षित नहीं होता है। साहित्याचार्य रस को असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य मानते हैं। वे आधुनिक विज्ञान के आधार पर इस आपत्ति का निराकरण करते हैं। आचार्यों का यह आक्षेप इस बात को सूचित करता है कि उन्होंने ज्ञान और अनुभूति के पारस्परिक सम्बन्ध की उपेक्षा की है। ज्ञान, अनुभूति और इच्छा का संश्लेष ही प्राप्त होता है अतएव ज्ञान और अनुभूति दोनों की युगपत् अनुभूति हो सकती है अर्थात्

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि विभाव-अनुभाव के प्रदर्शन से ऐसे विभाव-अनुभाव के भाव की उत्पत्ति होती है जिसके साथ विशेष प्रभावपूर्ण या प्रमुख भाव की अनुभूति लगी रहती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भुक्तवादी रस की उत्पत्ति मानते हैं और रस की स्थिति दर्शक व पाठक के हृदय में मानते हैं क्योंकि वहीं विभाव और अनुभाव के संयोग की प्रक्रिया निष्पन्न होती है।

साधारणीकरण—काव्यगत पात्रों द्वारा जब विभाव-अनुभावादि की व्यंजना की जाती है तब पाठक व श्रोता अपने हृदय में काव्य में वर्णित आश्रय के भाव की अनुभूति करने लगते हैं। इस सम्बन्ध में यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि राम ऐतिहासिक महापुरुष हैं और हमारी उनके प्रति यथार्थ श्रद्धा या भक्ति है तो उनके भावों के प्रदर्शन काल में हम तत्सम समान भाव की अनुभूति नहीं कर सकते हैं अर्थात् यदि राम का रतिभाव सीता के प्रति प्रदर्शित किया जा रहा है तो हमारे हृदय में यह रति भाव कैसे संचरित हो सकता है। इसी तरह की अन्यान्य आपत्तियों को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन रस समीक्षक आचार्यों ने 'साधारणीकरण' नामक प्रक्रिया का उल्लेख किया है। उक्त चार प्राचीन आचार्यों में से भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त ने ही दर्शक व श्रोता में रस की स्थिति मानी है और 'साधारणीकरण' के प्रश्न पर विशद विवेचना की है।

भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार की कल्पना की है। इस व्यापार के द्वारा पाठक व दर्शक काव्य में वर्णित आश्रय आलम्बन आदि को विशिष्ट व्यक्ति के रूप में देखने के स्थान पर साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में ग्रहण करने लगते हैं अर्थात् कवि कर्म से काव्य की कथा के व्यक्तियों का ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत स्वरूप ओझल हो जाता है। अब राम और सीता अपने वैयक्तिक रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं होते अपितु सामान्य पुरुष या स्त्री रूप में आ विराजते हैं और इस प्रकार वे हमारे भावों के विषय बनने के योग्य हो जाते हैं। यह एक प्रकार से विशेष को साधारण समझने की क्रिया होती है अतएव भावकत्व व्यापार को 'साधारणीकरण' का नाम

किया जाता है। इसके ही कारण अनुकार्य या काव्य पात्र के भाव उसके नहीं रहते व तो सब लोकसामान्य के हो जाते हैं। अभिनवगुप्त ने भावकत्व व्यापार का उक्त स्वरूप ग्रहण नहीं किया है। वे विभाव आदि के ग्रहण व तत्पश्चात् में भी साधारणीकरण के रूप में विशिष्ट पात्र को साधारण व्यक्ति मानना सम्भव नहीं समझते हैं। भट्टनायक के भावकत्व व्यापार में विशिष्ट व्यक्तियों को साधारण समझने की बात नहीं कही है और यह माना गया है कि विशेषत्व के परित्याग के परिणाम-स्वरूप दर्शक व पाठक के स्थायी भाव विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त हो जाते हैं। अभिनवगुप्त साधारणीकरण के विरोधी नहीं परन्तु वे इस रूप में पात्र की सामान्यता स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में विभावादि ममत्व-परत्व के सम्बन्ध से रहित हो जाते हैं। वह भाव सब व्यक्ति का अपना होने पर भी अपना नहीं रहता। वह भाव सकल सामाजिकों के हृदय की अनुभूति का समान रूप से विषय होता है। दूसरे शब्दों में काव्य में वर्णित वस्तु को देख कर या सुनकर एक व्यक्ति के हृदय में जैसी आनन्द की अनुभूति होती है वैसी ही प्रत्येक के हृदय में होने लगती है। इससे यह स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त साधारणीकरण को हृदय का धर्म स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत भट्टनायक का साधारणीकरण कवि-कर्म सापेक्ष होता है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में यह साधारणीकरण सम्बन्धों का होता है सामग्री का नहीं। यही अभिनवगुप्त का भट्टनायक के मत से अन्तर है।

गुप्तजी ने भी इस सम्बन्ध में अपनी धारणाओं का प्रकाशन किया है। वे कहते हैं—

"किसी काव्य के आलम्बन का प्रदर्शन भाव की अनुभूति को इस रूप में ग्रहण कर सकता है कि सामान्यता की प्रक्रिया में जिसे साधारणीकरण कहते हैं श्रोता या दर्शक का पात्र के साथ तादात्म्य हो जाता है। भावों की अनुभूति प्रदर्शित विशिष्ट विषयों के साथ नहीं होती प्रत्युत साधारण रूप में होती है। रसानुभूति काल में श्रोता इस बात का विचार करते नहीं

जाता कि भाव मेरे हैं या दूसरे के।

शुक्लजी के साधारणीकरण-सिद्धान्त पर भट्टनायक का अधिक प्रभाव है। भट्टनायक के अनुसार वे भी आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण मानते हैं अर्थात् जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना साधारणीकरण कहलाता है।

उनकी धारणा है कि काव्यगत आलम्बन ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य मात्र की भावात्मक सत्ता पर प्रभाव डालने वाला हो। इसका अभिप्राय यह नहीं कि उन्होंने व्यक्तियों की रुचि और प्रकृति की भिन्नता की उपेक्षा की है। वे कहते हैं कि जैसे एक मनुष्य की आकृति दूसरे मनुष्य की आकृति से नहीं मिलती फिर भी सामान्य आकृति भावना के आधार पर सब मनुष्यों की एकरूपता प्रतिपादित की जा सकती है ठीक इसी प्रकार प्रकृति तथा रुचि की भिन्नता रहने पर भी लोक हृदय की सामान्यता भी प्रमाणित की जा सकती है। नर-समष्टि की रागात्मिका प्रकृति के भीतर कुछ ऐसी अन्तर्भूमियाँ हैं जिनमें पर्याप्त अभिन्नता विद्यमान है। साधारणीकरण सिद्धान्त की प्रतिष्ठा सामान्य अन्तर्भूमि की नींव पर की गई है।

भट्टनायक के सिद्धान्त के अनुसार सामान्य आलम्बन की प्रतिष्ठा कवि कर्म-सापेक्ष है। शुक्लजी की दृष्टि में भी विभाव अर्थात् सर्व-सामान्य आलम्बन-विधान के बिना रसोत्पत्ति सम्भव नहीं हो सकती है। यदि आलम्बन सर्व सामान्य नहीं होगा अर्थात् वह मानवमात्र के भाव का आलम्बन न हो सकेगा तो ऐसे आलम्बन की प्रतिष्ठा में कवि-कर्म विभाव-विधायक नहीं माना जाएगा। वह तो केवल भाव-प्रदर्शन मात्र होगा। ऐसी स्थिति में साधारणीकरण या पूर्ण रसोद्बोधन सम्भव नहीं।

शुक्लजी ने अभिनवगुप्त के साधारणीकरण सम्बन्धी धारणा का भी खण्डन किया है। उनका यह कथन कि 'रसानुभूति काल में श्रोता इस बात का विचार करते नहीं बैठता कि भाव मेरे हैं या दूसरे के'—एक प्रकार से

अभिनवगुप्त के ममत्व-परत्व के सम्बन्ध का परित्याग ही है। इसी प्रकार दूसरों के साधारणीकरण को भी उन्होंने एक प्रकार से स्वीकार कर लिया है। वे कहते हैं कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेद भाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।

शुक्लजी ने साधारणीकरण के सिद्धान्त को आधुनिक कला-समीक्षा की कसौटी पर भी कसा है। आधुनिक कला-समीक्षा का यह सिद्धान्त है कि कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना तर्क और विज्ञान का काम है—निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना में 'बिम्ब' या 'मूर्त भावना' उपस्थित करना बुद्धि के सामने कोई विचार लाना नहीं। बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा सामान्य या जाति का नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य का आलम्बन सामान्य नहीं हो सकता है। भट्टनायक ने यह कहा है कि आलम्बन विशेष नहीं रहता सामान्य हो जाता है। इसलिए आधुनिक कला सिद्धान्त के साथ 'साधारणीकरण' का सामञ्जस्य करने के लिए उन्होंने भट्टनायक के सिद्धान्त का एक प्रकार से संशोधन कर दिया है। वे कहते हैं कि आलम्बन के साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा किए सामान्य रूप की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। इस संशोधन से आधुनिक कला-समीक्षा की बिम्ब ग्रहण की कसौटी पर प्राचीन साधारणीकरण का सिद्धान्त भी पूरा उतरता है। परस्पर किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता है।

रस दशा की कोटियाँ—'साधारणीकरण' सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय शुक्लजी ने रस दशा की तीन कोटियों की मौलिक उद्भावना की है। वे कहते हैं कि प्राचीन आचार्यों ने इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते समय श्रोता या पाठक के काव्यगत आश्रय के साथ तादात्म्य की अवस्था पर ही विचार किया है परन्तु उन्होंने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि काव्य में ऐसे वर्णन भी आ सकते हैं जहाँ श्रोता या पाठक काव्यगत आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं कर पाता फलतः आश्रय जिस भाव की अनुभूति वर्णित आलम्बन के प्रति करता है पाठक व श्रोता उस भाव की अनुभूति न कर किसी अन्य स्वतन्त्र भाव की अनुभूति करने लगता है। इस दशा में श्रोता व पाठक का हृदय उस आश्रय (पात्र) के हृदय से अलग रहता है। ऐसी स्थिति में वह पात्र के शील द्रष्टा या प्रकृति द्रष्टा के रूप में प्रभाव अवश्य ग्रहण करेगा। वह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा यह दशा भी एक प्रकार की रस दशा ही है। इसी आधार पर शुक्लजी ने रसदशा की कोटियों की उद्भावना की है। वे कहते हैं कि साधारणीकरण का सीधे शब्दों में अर्थ है श्रोता का भी उसी भाव में मग्न होना जिस भाव की कोई काव्यगत पात्र (या कवि) व्यंजना कर रहा है। यह दशा तो रस की उत्तम दशा है अर्थात् यहाँ रसानुभूति उत्तम कोटि की होगी। जहाँ काव्यगत पात्र के द्वारा व्यंजित भाव में श्रोता या पाठक का हृदय लीन नहीं हो पाता केवल उस पात्र के शील द्रष्टा के रूप में स्थित रहता है वहाँ वह पात्र का आलम्बन पाठक व श्रोता का आलम्बन नहीं रहता अपितु वह पात्र ही उनके किसी भाव का आलम्बन हो जाता है। इस दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य तो नहीं होता परन्तु कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र के स्वरूप की प्रतिष्ठा करता है। पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है पाठक या श्रोता का भी उसी भाव का आलम्बन प्रायः वह हो जाता है। ऐसी स्थिति में पाठक व श्रोता के हृदय में जो रसात्मक अनुभूति होगी वह रस की मध्यम दशा कहलाएगी अर्थात् रसदशा की मध्यम कोटि होगी।

उत्तम कोटि की रस दशा में श्रोता व पाठक अपनी पृथक सत्ता को कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की तादात्म्य सत्ता में विलीन हो जाता है, परन्तु मध्यम कोटि की रस दशा में श्रोता व पाठक अपनी पृथक सत्ता असम सँभाल रखता है और पात्र में शील विशेष के दर्शन से किसी अन्य भाव की अनुभूति करता है।

आधुनिक काल में पाश्चात्य दृश्य काव्यों में अन्तः प्रकृति के वैचित्र्य का प्रधानतया प्रदर्शन किया जाता है। इस शील वैचित्र्य को भी दृष्टि में रखते हुए शुक्लजी ने साधारणीकरण तथा रसदशा की कोटियों की कल्पना की है। वे कहते हैं कि पात्रों के अन्तः प्रकृति वैचित्र्य से तीन बातें हो सकती हैं—१ आश्चर्यपूर्ण प्रसादन २ आश्चर्यपूर्ण अवसादन ३ कुतूहलमात्र।

आश्चर्य पूर्ण प्रसादन शील के चरम उत्कर्ष के साक्षात्कार में होता है। राम भरत आदि महापुरुषों के उत्कृष्ट शील वैचित्र्य से पाठक व श्रोता के हृदय में आश्चर्य मिश्रित श्रद्धा भक्ति का संचार हो सकता है और उत्कृष्ट पात्रों द्वारा व्यंजित भावों को पाठक व श्रोता अपनाकर उनमें लीन भी हो सकता है। भाव व्यंजना काल में पाठक या श्रोता का इन पात्रों के साथ तादात्म्य हो जाने से जो रसात्मक अनुभूति होगी वह उत्तम कोटि की होगी।

आश्चर्य पूर्ण अवसादन शील के अत्यन्त पतन के साक्षात्कार में होता है। क्रूर, पापाचारी पात्रों की भाव-व्यंजना में पाठक व श्रोता अपना हृदय का योग नहीं दे सकता। वह उनके क्रूर चरित्र से प्रभावित होकर आश्चर्य मिश्रित विरक्ति घृणा आदि भावनाओं की अनुभूति करने लगता है। इस स्थिति में भी पाठक की अपने भावों में तल्लीनता सम्पन्न हो जाती है। यहाँ तन्मयता रस दशा है परन्तु यह मध्यम कोटि की है।

कुछ लोगों के कथनानुसार ऐसी अनिर्णीत प्रकृति की कल्पना की जा सकती है जिसके साक्षात्कार से न तो प्रसादन होता है और न अवसादन है अपितु कुतूहल या मनोरंजन ही पाठक व श्रोता के हृदय में उत्पन्न होता है। शुक्लजी कहते हैं कि इस प्रकार की अनिर्णीत प्रकृति संसार में अद्भुत

रित करने की क्षमता रखता है। यदि कोई उत्साही वीर हमारे सम्मुख लोक कल्याण कार्य करता जाता है तो उसके उत्साह भाव के आलम्बन से हम भी उत्साह की आनन्दमयी अनुभूति कर सकते हैं। इसी प्रकार लोक पीड़क या क्रूर कर्मा अत्याचारी को देख-सुनकर उसके प्रति जिस क्रोध का हमारे हृदय में उदय होगा वह भी रस कोटि का होगा क्योंकि उसमें अपने व्यक्तित्व का परिहार और अन्य हृदयों का समान रूप में योग सम्पन्न हो जाएगा। शोक की वास्तविक अनुभूति यद्यपि दुःख रूप होती है तथापि व्यक्ति बद्ध दशा से मुक्त हो जाने के कारण यह अनुभूति भी आनन्द स्वरूप समझी जा सकती है।

भय की प्रत्यक्षानुभूति तभी रस कोटि की मानी जा सकती है जबकि हमारा ध्यान अपने व्यक्तित्व की ओर न होकर लोक से सम्बद्ध रहेगा। इसी के समकक्ष यदि किसी ऐसे घृणित आचरण वाले के प्रति हमारी जुगुप्सा जागी जिसे देखते ही लोक सामान्य की रुचि का व्याघात हो सकता है तो हमारी वह अनुभूति रसमयी मानी जा सकेगी। शोक भाव अपनी निज की इष्ट हानि पर होता है परन्तु करुणा दूसरों की दुर्गति या पीड़ा से उत्पन्न होती है अतएव शोक भाव से उत्पन्न होने वाले रस का नाम 'करुण' रखा गया है। करुणा ही एक ऐसा व्यापक भाव है जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति सब रूपों में और सब दशाओं में रसात्मक होती है क्योंकि करुणा से उत्पन्न होने वाला दुःख हमारा अपना नहीं होता है लोक सामान्य का होता है। इस स्थिति में यद्यपि हम दुःख का ही अनुभव करते हैं तथापि हमारा हृदय उस समय मुक्त दशा में होता है, उसका अपने योग क्षेम सुख-दुःख हानि-लाभ से सम्बन्ध नहीं रहता है। महाकवि भवभूति ने भी करुण रस को ही सब रसों का मूल माना है उसके मूल में करुणा की यही विशेषता विद्यमान है।

इसी प्रसंग में शुक्लजी ने प्रकृति के नानारूपों के दर्शन से उत्पन्न होने वाली अनुभूति को भी रसात्मक घोषित किया है। उनका कथन है कि प्रकृति प्रेम हमारे अन्तःकरण में वासना रूप से वंश-परम्परा से विद्यमान है। ऐसी स्थिति में प्रकृति का हमारे प्रेम भाव का आलम्बन होकर रसानु

भूति कराना स्वाभाविक ही है। यह कहा जा चुका है कि शुक्लजी काव्य में प्रकृति को आलम्बन रूप से भी ग्राह्य मानते हैं। 'काव्यगत प्रकृति वर्णन में भी रसोद्बोधन की क्षमता हो सकती है' उनका यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि वे रसानुभूति के लिए आश्रय विधान को अनिवार्य नहीं मानते अतएव काव्यगत प्रकृति वर्णन में आश्रय का चित्रण न होने पर भी रसात्मकता हो सकती है। वे कहते हैं जहाँ आश्रय का स्पष्ट उल्लेख नहीं होता वहाँ उसका आक्षेप कर लिया जाता है। इस सम्बन्ध में यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि प्रकृति को आलम्बन माना जायगा तो आलम्बन के जड़ होने से तथा अनुकूल प्रतिक्रिया का अभाव होने से भाव की पूर्णता नहीं हो सकेगी। इसके उत्तर में शुक्लजी यह कहते हैं कि यह आपत्ति उचित नहीं है क्योंकि घृणा भाव का आलम्बन भी जड़ रहता है परन्तु वहाँ रस दशा स्वीकार की जाती है। इस प्रकार प्रकृति की प्रत्यक्षानुभूति में तथा काव्यगत प्रकृति वर्णन से उत्पन्न होने वाली अनुभूति में रसोद्बोध की क्षमता स्वीकार की जा सकती है।

वास्तविक स्मृति रूप-विधान—स्मृति रूप विधान में भी रसोद्बोध की क्षमता मानी जा सकती है। शुक्लजी कहते हैं कि भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई वस्तुओं का वास्तविक स्मरण भी कभी-कभी रसात्मक होता है। प्रिय का स्मरण, बाल्यकाल या यौवनकाल के अतीत जीवन का स्मरण, प्रवास में स्वदेश-स्थलों का स्मरण निश्चित रूप से रसात्मक होता है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने के योग्य है कि स्मृति रूप-विधान प्रायः तभी रसात्मक होगा यदि उसका सम्बन्ध रति, हास और करुणा स्थायी भाव के साथ होगा। दूसरे भावों के आलम्बनों का स्मरण भी रसात्मक हो सकता है। यदि उनका सम्बन्ध केवल हमारी व्यक्तिगत भावसत्ता के साथ न होकर सम्पूर्ण नरजीवन की भाव-सत्ता के साथ हो।

स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञान में भी इस प्रकार की बड़ी गहरी शक्ति शुक्लजी स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि बाल्य या यौवन जीवन के किसी साथी के बहुत दिनों पीछे सामने आने पर जिससे पुराने दृश्य हमारे मन क

जाता है। विभाव पक्ष के अन्तर्गत उन सब वस्तुओं और व्यापारों को लिया जाता है जो हमारे मन में सौन्दर्य माधुर्य दीप्ति कान्ति प्रताप ऐश्वर्य विभूति इत्यादि की भावनाएँ उत्पन्न करते हैं। दूसरे शब्दों में शृंगार, रौद्र वीर करुण आदि रसों के आलम्बनों और उद्दीपनों के वर्णन प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन विभाव पक्ष में आते हैं। इस प्रकार के सभी प्रस्तुत रूपों तथा व्यापारों की योजना करने में ही कल्पना की उपयोगिता है। इसके अतिरिक्त अनुभावों की योजना से आश्रय के स्वरूप की प्रतिष्ठा 'कल्पना' ही करती है। अमूर्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करने की क्षमता भी इसी तत्व में है। भावों की असीम ऊँचाई गहराई का संकेत करने के लिए कल्पना ही उपयुक्त शब्द योजना करती है अन्यथा भावों की उन्मुक्त व्यंजना ही नहीं हो सकती। भाव-व्यंजना के लिए 'कल्पना' पूर्ण स्वच्छन्द होकर लोक मर्यादा का भी उल्लंघन कर देती है वह पवनों के पांवड़े बिछाती है और प्रेमी द्वारा प्रिय को आँखों में बसाने की बात कहती है।

अप्रस्तुत रूप विधान—प्रस्तुत वस्तुओं के स्वरूप को तथा तत्सम्बन्धी भावना को अधिक स्पष्ट एवं उत्कृष्ट करने के लिए प्रस्तुत के साथ तत्सदृश अप्रस्तुत वस्तुओं को भी काव्य में लाना पड़ता है। अप्रस्तुत रूप-व्यापार की योजना भी 'कल्पना' का ही कार्य है। इसमें काव्य का कला पक्ष आता है।

प्रस्तुत या अप्रस्तुत रूप योजना करने वाली वही कल्पना काव्य के लिए उपादेय मानी जा सकती है जो या तो किसी भाव द्वारा प्रेरित हो अथवा भाव प्रवर्तन और संचार करती हो जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होकर हृदय पर प्रभाव डालती हो। शुक्लजी 'कल्पना' को काव्य का 'बोध पक्ष' कहते हैं और इसके साथ भाव का योग स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि भारतीय रस सिद्धान्त के अनुसार काव्यगत कल्पना का मूलरूप भावात्मक या अनुभूत्यात्मक लिया जा सकता है। मनोविज्ञान के अनुसार भाव का जो स्वरूप निर्दिष्ट होता है उसमें ज्ञान भी अव्यक्त रूप में विद्यमान है, अतः जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में प्रथम वस्तु का ज्ञान होता है और तदनन्तर उसके प्रति भाव संचार होता है। ठीक उसी प्रकार काव्य क्षेत्र में भी भाव संचार

के लिए भाव पक्ष की आवश्यकता है। इस पक्ष की पूर्ति कल्पना तत्त्व द्वारा हो जाती है। 'कल्पना' वस्तुओं की रूप-योजना करता है जिसके प्रत्यक्ष साक्षात्कार से कवि और पाठक को भाव-प्रसार के लिए आवश्यक ज्ञान प्रसार की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार एक प्रकार से कल्पना काव्य का क्रियात्मक बोध पक्ष रह जाती है। शुक्लजी की धारणा है कि काव्य में इस बोध पक्ष के अतिरिक्त भावपक्ष भी रहता है अर्थात् इस कल्पित रूप-योजना के मूल में प्रत्यक्ष रूप से भाव या मनोविकार रहते हैं और वे ही कल्पना में आई वस्तुओं के रूपों या व्यापारों से पाठक व श्रोता के मन को रमाने वाले होते हैं। वे पश्चिम के उन साहित्य मीमांसकों से सहमत नहीं हैं जो भाव पक्ष की अवहेलना करके 'कल्पना' को सबसे अधिक महत्त्व प्रदान कर रहे हैं। इटली निवासी क्रोचे ने कल्पना पक्ष को प्रधानता देकर उसका मूलरूप ज्ञानात्मक स्वीकार किया है। वे इस स्वयंप्रकाश ज्ञान अर्थात् बुद्धि की क्रिया के बिना मन में आप-से-आप उठी हुई मूर्त भावना कहते हैं। वे इस ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान और विचार जन्य ज्ञान दोनों से सर्वथा निरपेक्ष स्वतन्त्र मान कर चले हैं। स्वयंप्रकाश ज्ञान का मौन में झलककर व्यक्त होना ही कल्पना है। यह कल्पना ही मूल अभिव्यंजना है जो भीतर होती है और शब्द रंग आदि द्वारा बाहर प्रकाशित की जाती है। इस प्रकार क्रोचे 'कल्पना' को आध्यात्मिक क्रिया मानते हैं और उस विचार प्रसूत ज्ञान से भिन्न मानकर अत्यन्त महत्त्व प्रदान करते हैं। इसी के परिणाम स्वरूप काव्य मीमांसा के क्षेत्र में अनेक वाद प्रवर्तित होते गये हैं। कल्पना को आध्यात्मिक क्रिया तथा निरपेक्ष ज्ञान मान लेने से काव्य रूपों को बाह्य जगत् के अनन्त रूपों से भिन्न कहने की परम्परा ही चल पड़ी है। फलतः 'कल्पना आध्यात्मिक जगत् का आभास है' 'कल्पना का लोक ही निराला है' 'कला कला के लिए' 'काव्य सौन्दर्य की भावना है' 'काव्य नूतन सृष्टि है' इत्यादि भ्रान्त उक्तियाँ तथा साहित्यिक धारणाएँ भी प्रवर्तित हो गई हैं। वस्तुतः काव्यगत रूप और व्यापार बाह्य जगत् के रूप राशि की ही छाया है। ये लोक के रूपानुसार कल्पना के द्वारा लाने से निकले हुए कोई विलक्षण रूप नहीं हैं। इन्द्रियज ज्ञान के आ

संस्कार मन में संचित रहते हैं वे ही कभी बुद्धि के धक्के से कभी यों ही भिन्न-भिन्न रूप से सम्मिश्रित होकर भासा करते हैं। यही मूर्त भावना या कल्पना है। यदि इनका सम्बन्ध दृष्ट अथवा अनुभूत पदार्थों के साथ नहीं है और ये विशेषतया आत्मा से निकले हुए हैं तो उनकी सद्भावना अन्यान्यों का भी वैसी ही होनी चाहिए जैसी प्रत्यक्ष बातों की हो सकती है। शुक्लजी की धारणा के अनुसार तो काव्यानुभूति जीवन-क्षेत्र में संचित अनुभूतियों का ही रसात्मक रूप है। वे काव्य में कल्पना का भावात्मक रूप ही स्वीकार करते हैं क्योंकि वे काव्य में हृदय की अनुभूति को प्रधान मानते हैं और मूर्त रूप को गौण। इस प्रकार 'कल्पना' भाव की सहयोगिनी बनकर ही काव्य में तत्त्व रूप से स्थान प्राप्त कर सकती है स्वातन्त्र्य से नहीं।

शैली तत्त्व शब्द विधान—शैली का सम्बन्ध काव्य के कलापक्ष के साथ होता है। यह एक प्रकार का रचना तत्त्व है। उसके द्वारा कवि एवं रचनाकार जीवन से प्राप्त सामग्री को एक विशिष्ट क्रम में विन्यस्त करके उसमें सौन्दर्य और प्रभाव उत्पन्न कर देता है। शुक्लजी ने काव्य स्वरूप के विवेचन में शैली तत्त्व की उपेक्षा नहीं की है। उनकी काव्य स्वरूप सम्बन्धी तीन परिभाषाओं में प्रयुक्त शब्द विधान उक्ति तथा वाङ्मय शब्द इसी तत्त्व के परिचायक हैं।

काव्य का सारा बाहरी ढाँचा शब्दों के ही विधान से निर्मित होता है। सामान्य व्यावहारिक भाषा में भी शब्दों के विधान से कार्य चलाया जाता है, परन्तु व्यावहारिक भाषा के शब्दों और काव्य भाषा के शब्दों में अन्तर अवश्य रहता है क्योंकि इन दोनों में भीतरी उद्देश्य का मौलिक भेद रहता है। व्यावहारिक भाषा में केवल अर्थ ग्रहण से ही लक्ष्य सिद्धि हो जाती है। वक्ता केवल किसी वस्तु या तथ्य का बोध कराना चाहता है परन्तु काव्य भाषा के शब्द विधान का उद्देश्य अर्थ बोध के अतिरिक्त तादात्म्य अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन भी होता है। यही दोनों में स्पष्ट अन्तर है।

शब्द शक्तियाँ—शुक्लजी काव्य में अर्थ की उपेक्षा नहीं करते हैं। अर्थ से उनका अभिप्राय किसी वस्तु या विषय से ही है। काव्य का अर्थ अर्थात्

वस्तु कल्पित होती है। वे प्रत्यक्ष अनुमित तथा आप्तोपलब्ध अर्थ को क्रमशः व्यवहार, दर्शन तथा इतिहास क्षेत्र का ही मानते हैं। दर्शन विज्ञान तथा इतिहास क्षेत्र के अर्थ भी काव्य क्षेत्र में आ सकते हैं यदि उनके साथ कल्पित अर्थ का भी योग हो जाय। भाषा अपने शब्दों के द्वारा अर्थ का बोध कराती है। इतिहास में दर्शन में विज्ञान में नित्य की बातचीत लड़ाई झगड़े में भाषा के शब्द यही काम करते हैं। काव्य की भाषा के शब्द भी इस बात के अपवाद नहीं है। काव्य के शब्द जब अपने विशिष्ट काम भावोत्क्षेप एवं चमत्कारपूर्ण अनुरंजन-करते हैं तब भी उनका अर्थ के साथ योग अवश्य बना रहता है।

शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध अटूट है। इसके साथ ही यह भी निर्विवाद है कि जहाँ अर्थ होगा वहाँ योग्यता और प्रसंगानुकूलता या प्रकरण सम्बद्धता अवश्य विद्यमान होगी अर्थात् वह सम्बन्ध बुद्धि सम्मत एवं प्रसंगानुकूल ही होगा। काव्यगत भाषा में यदि कहीं योग्यता तथा उपपन्नता का अभाव परिलक्षित होता है तो शब्द की शक्तियों में इस योग्यता तथा उपपन्नता की खोज की जाती है। प्राचीन आचार्यों की भाँति शुक्लजी ने भी अभिधा लक्षणा तथा व्यंजना नामक शब्दशक्तियाँ तथा तात्पर्य वृत्ति की परिभाषायें प्रस्तुत की हैं। प्राचीन मतावलम्बियों का भी विवेचन अपनी संक्षिप्त टिप्पणियों के साथ किया है।

इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि शुक्लजी वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में से काव्य की रमणीयता वाच्यार्थ में ही मानते हैं। वे कहते हैं कि अभिधा शक्ति से शब्द के योग्य एवं उपपन्न अर्थ (वाच्यार्थ) का बोध हो जाता है परन्तु काव्य की भाषा में प्रायः ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनका अर्थ स्पष्ट अयोग्य एवं अनुपपन्न प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों में वाच्य अर्थात् बुद्धिग्राह्य एवं प्रसंगानुकूल अर्थ की खोज में लक्षणा-व्यंजना शक्तियाँ विशेष सहायता कर देती हैं। इन शक्तियों से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही क्रमशः लक्ष्यार्थ व्यंग्यार्थ होता है अर्थात् अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य और

बुद्धिग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है। उनकी धारणा यह है कि काव्य की भाषा में ऐसे अयोग्य अनुपपन्न वाच्यार्थ वाले शब्दों के विधान से ही चमत्कारपूर्ण अनुरंजन की क्षमता उत्पन्न होती है। उन्होंने अपनी इस धारणा का समर्थन 'साकेत' महाकाव्य की उर्मिला की एक रसात्मक उक्ति के आधार पर किया है वह उक्ति यह है—

"आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ ?
मैं अपने को आप मिटा कर जाकर उनको लाऊँ।

इसमें अपने को मिटाकर उर्मिला अपने प्रिय लक्ष्मण का मन से लाने की बात कहती है। स्पष्ट ही इस शब्द विधान का वाच्यार्थ अयोग्य एवं अनुपपन्न है अर्थात् बुद्धि इसे स्वीकार नहीं कर सकती। कोई भी अपने को मिटाकर दूसरे को लाने की कल्पना नहीं कर सकता है। अब लक्षणा और व्यंजना शक्तियों की सहायता से इस शब्द विधान में से योग्य और विकसित अर्थ निकालने का प्रयास करके हम यह अर्थ ग्रहण करते हैं कि उर्मिला में अपने प्रिय से मिलने का औत्सुक्य चरम सीमा में पहुँच गया है। उनकी धारणा के अनुसार वैचित्र्य एवं रमणीयता इस व्यंग्यार्थ में नहीं अपितु व्यंग्यार्थ के आधारभूत वाच्यार्थ में ही है। इसीलिए उनका सिद्धान्त है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है। इसका यही अर्थ है कि लक्षणा और व्यंजना अभिधा के ही आश्रित होती है अतः काव्यत्व का क्रम भी आधार मान लेना चाहिए। इससे अभिधा द्वारा संकेतित वाच्यार्थ के महत्त्व का ही संकेत लेना चाहिए, लक्षणा और व्यंजना के द्वारा संकेतित लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ के विरोध का नहीं। वे लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को काव्य के लिए निष्प्रयोजन एवं निरर्थक नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि काव्य तो है अयोग्य अनुपपन्न-बुद्धि को अग्राह्य शब्द विधान परन्तु उसके बुद्धिग्राह्य एवं योग्य अर्थ का काव्य में प्रयोजन यह है कि उसमें काव्य को धारण करने वाला वह सत्य अन्तर्निहित है जिसकी देखरेख में काव्य मनमानी क्रीड़ा कर सकता है। इसी सत्य के साथ किसी उक्ति का सम्बन्ध देखकर यह निश्चय किया जा सकता है कि उसका स्वरूप कहाँ तक सुव्यवस्थित है। उक्ति की साधुता

और सचाई की परख के लिए उसका सामने रखने की आवश्यकता होती है। निस्सन्देह यह आवश्यकता अधिकतर समीक्षकों को पड़ती है।

शुक्लजी लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग को काव्य भाषा के लिए अनिवार्य समझते हैं क्योंकि ऐसे ही शब्दों के प्रयोग में अगोचर बातें सूक्ष्म भावनाएँ गोचर एवं स्थूल मूर्त रूप में आकर—पाठक व दर्शक के सम्मुख उपस्थित होने लगती हैं फलतः वे काव्य के उद्देश्य को पूर्ण करने में प्रधान साधन बन जाते हैं। फिर भी अयोग्य एवं अनुपपन्न शब्दों में सन्निहित योग्य एवं उपपन्न अर्थ परस्पर सर्वथा असम्बद्ध नहीं हो सकते और उक्ति में सौन्दर्य इसी अयोग्य (लाक्षणिक) शब्द के प्रयोग से ही आता है। हमें इस सम्बन्ध में यह बात अवश्य ध्यान में रखनी होगी कि वे उक्ति वैचित्र्य को ही सर्वस्व नहीं मानते। उनकी धारणा में भाव प्रेरित तथा भावोन्मेष करने वाली ही उक्ति काव्य क्षेत्र में उपादेय है। केवल विचित्रता काव्य भाषा में सौन्दर्य नहीं ला सकती है उसके मूल में किसी-न-किसी भाव के योग की अनिवार्यतः आवश्यकता है। इसीलिए वे यह कहते हैं—"बहुत-सी अत्यन्त मार्मिक और भावपूर्ण कविताएँ ऐसी होती हैं जिनमें भाषा कोई करामात या अनूठापन नहीं दिखाती अपने शुद्ध रूप में ही पूरा रसात्मक प्रभाव डालती हैं। उनकी दृष्टि से काव्य में योग्य अर्थ होना अवश्य चाहिए—योग्यता चाहे खुली हो या छिपी हो।"

शुक्लजी का विश्वास है कि वाक्य अयोग्य और असम्बद्ध प्रलाप के भीतर भी कभी-कभी काव्य के प्रयोजन की योग्यता छिपी रहती है जैसे शोकोन्माद या वियोग विक्षिप्त के प्रलाप में क्षोभ की विह्वलता या वियोग की व्याकुलता ही योजना है। रीतिकाल के आचार्य कविदेव ने अभिधा को ही उत्तम काव्य कहा है। उनका भी उनकी दृष्टि में यही अर्थ है कि वाच्यार्थ को ही देव ने काव्यत्व का कारण माना है अर्थात् उसमें ही काव्य की रमणीयता रहती है।

शुक्लजी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का क्षेत्र में सीधा और निकट का सम्बन्ध मानते हैं पर व्यंजना का उससे सम्बन्ध वाच्यार्थ के द्वारा होता है।

इसके अतिरिक्त उनके सिद्धान्त में लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ का रूपान्तर मात्र होता है और व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से पृथक अर्थ होता है।

व्यंजना के सम्बन्ध में उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया है कि वस्तु व्यंजना और भाव व्यंजना दोनों भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ हैं। साहित्यकारों ने जो इन दोनों में भिन्नता कही है वह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। वस्तु व्यंजना और भावव्यंजना में केवल इतना ही अन्तर कहा गया है कि एक में—वस्तु व्यंजना में—वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक को लक्षित होता है। दूसरी में—भावव्यंजना में—वह क्रम होने पर भी लक्षित नहीं होता है। शुक्लजी इन दोनों में केवल इतना ही अन्तर नहीं समझते वे तो भावव्यंजना को सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति मानते हैं। उनका कथन यह है कि भाव या रस के सम्बन्ध में व्यंजना शब्द का प्रयोग ही समुचित नहीं है क्योंकि भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ नहीं माना जा सकता है। यदि व्यंग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा। वस्तु व्यंजना में जिस प्रकार वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने की बात कही जा सकती है ठीक उसी प्रकार रसादि की अनुभूति के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती है। अमुक रति या क्रोध कर रहा है इस प्रकार के व्यंग्यार्थ के ज्ञान से ही रति या क्रोध की रसात्मक अनुभूति नहीं हो सकती है। रति क्रोध आदि भावों का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ तक पहुँचना नहीं कहा जा सकता अतएव भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार शुक्लजी ने व्यंजना के दूसरे भेद भाव व्यंजना पर आक्षेप किया है और इस बात की ओर साहित्य मीमांसकों का ध्यान आकर्षित किया है कि यदि भाव या रस को व्यंग्यार्थ मानना है तो रत्यादि भाव का ज्ञान आस्वाद दशा तक किस प्रक्रिया से पहुँचता है इस प्रश्न का समाधान ढूँढना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में उन्होंने केवल इतना ही कह दिया है कि वह एक भिन्न प्रकार की वृत्ति है। भविष्य के साहित्य मीमांसकों को इस सम्बन्ध में अपनी विचार परम्परा जारी रखनी चाहिए।

रीति—शब्द विन्यास से शब्द विन्यास प्रणाली का अर्थ भी लिया जा

सकता है। प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रीति तत्त्व का समावेश भी इसी शब्द विधान के अन्तर्गत माना जा सकता है। शुक्लजी भी 'रीति तत्त्व' को उसी रूप में स्वीकार करते हैं जिस रूप में साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने स्वीकार किया है। वे रीति को काव्य का शरीर मानते हैं। जैसे मानव शरीर में कई अंगों-प्रत्यंगों का परस्पर संघटन होता है उसी प्रकार काव्य के शरीर का संघटन कई शब्दों के विशिष्ट विन्यास से होता है। शुक्लजी की धारणा है कि काव्य प्रसंग में रीति तत्त्व की चर्चा नाद सौन्दर्य की दृष्टि से की गई है। इस तत्त्व की उपेक्षा करना वे उचित नहीं समझते। फिर भी इस काव्य की आत्मा नहीं माना जा सकता है। हाँ किसी भाव के प्रभाव की पूर्णता उत्पन्न करने के लिए विशिष्ट वर्ण विन्यास पर्याप्त उपयोगी कहा जा सकता है। उनका यह सिद्धान्त है कि जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए काव्य चित्रविद्या की प्रणाली का अनुसरण करता है उसी प्रकार नाद सौन्दर्य के लिए वह बहुत-कुछ संगीत तत्त्व का भी सहारा लेता है। नाद-सौन्दर्य के निमित्त वर्ण-विशिष्टता को इतना महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए कि काव्य की आत्मा भाव की ही उपेक्षा हो जाय।

अलंकार—अलंकार को रूप विधान अर्थात् काव्य शरीर में ही सम्बन्ध रखते हैं। इन्हें काव्य के कला-पक्ष में स्थान दिया जा सकता है। शुक्लजी की धारणा के अनुसार काव्य में प्रस्तुत के अतिरिक्त अप्रस्तुत की योजना होता है। यह अप्रस्तुत रूप विधान प्रस्तुत भाव वस्तु या व्यापार की भावना को अधिक स्पष्ट तथा उत्कृष्ट रूप देने के लिए किया जाता है। अतः प्रस्तुत वर्ण प्रसंगार्थ तथा अप्रस्तुत रूप विधान अलंकार का एक प्रमुख विषय माना जायगा। नवीन पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद आदि काव्यवादों के अन्धानुकरण की दृष्टि से कई लोग यह कहते हैं कि अलंकार कोई चीज नहीं उसका बखेड़ा व्यर्थ। शुक्लजी ऐसे लोगों के साथ सहमत नहीं। वे क्रोचे के समान यह भी नहीं मानते कि वास्तविक अभिव्यंजना या उक्ति से भिन्न 'अलंकार' कोई पदार्थ नहीं। उनकी यह धारणा है कि अलंकार और अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता है। उक्ति चाहे कितनी ही कल्पनामयी

हो उसकी तह में कोई प्रस्तुत अर्थ चमत्कार्य अवश्य होना चाहिए। जैसे व्यंग्यार्थ के आधार पर अयोग्य एवं अनुपपन्न वाच्यार्थ को भी काव्य में महत्वपूर्ण स्थान मिल जाता है इसी प्रकार चमत्कार्य प्रस्तुत अर्थ के आधार पर चमत्कारों को भी काव्य में समुचित स्थान दिया जा सकता है। अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत अर्थ के बिना किसी उक्ति की समीचीनता का निर्णय नहीं हो सकता और न ही उसकी रमणीयता का यथार्थत प्रदर्शन ही किया जा सकता है।

शुक्लजी की दृष्टि में चमत्कार विभिन्न अप्रस्तुत वस्तु-विधान और प्रस्तुत वस्तु के वर्णन की विभिन्न प्रणालियाँ हैं। ये साधन रूप हैं साध्य नहीं। काव्य में प्रस्तुत वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए ही इनकी आवश्यकता है। इसके द्वारा काव्य में प्रभावोत्पादकता का गुण उत्पन्न होता है। ये चमत्कार तीन रूप में प्रयुक्त होते हैं—१ अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में २ वाच्य वक्रता के रूप में ३ वर्ण विन्यास के रूप में। इन तीन ही रूपों में इनका उद्देश्य केवल प्रस्तुत भाव या भावना को उत्कृष्ट रूप प्रदान करना ही है।

वर्ण्य वस्तु और वर्णन प्रणाली दोनों भिन्न-भिन्न माने हैं। कुछ प्राचीन काव्य समीक्षकों ने 'अलंकार' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया था। उन्होंने वर्ण्य वस्तु और वर्णन प्रणाली का एक ही प्रकार की काव्य सामग्री के रूप में उल्लेख किया है। धीरे-धीरे यह अवस्था दूर होती चली गई और साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ तक पहुँचते-पहुँचते वर्ण्य वस्तु और वर्णन प्रणाली का अन्तर स्वीकार कर लिया गया और पृथक तत्त्व के रूप में अलंकारों की विवेचना की जाने लगी। फिर भी अभी तक कुछ ऐसे अलंकार हैं जो वास्तव में वर्ण्य वस्तु का निर्देश करते हैं जैसे स्वभावोक्ति अत्युक्ति और उदात्त। वर्ण्य वस्तु का निर्देश करना अलंकार का काम नहीं है। इसीलिए शुक्लजी स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानना चाहते। 'स्वभावोक्ति' के लक्षण से ही यह बात स्पष्ट की जा सकती है। 'जिसमें बालकादिकों की निजकी क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति कह

जाता है। दूसरे शब्दों में सृष्टि की वस्तुओं के रूप और व्यापार का वर्णन स्वभावोक्ति है। इस मन्तव्य के अनुसार जब किसी बालक की रूप चेष्टाओं का वर्णन किया जाएगा तब उसे स्वभावोक्ति कहा जा सकता है। वास्तव में यह वर्णन काव्य के भावपक्ष से सम्बद्ध है कलापक्ष से नहीं। पाठक व दर्शक में वात्सल्य भाव की रसात्मक अनुभूति के लिए बालक के रूप आदि का वर्णन आलम्बन विभाव के अन्तर्गत और उसकी चेष्टाओं का वर्णन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत माना जाएगा। इस कथन को चमत्कार रूप में नहीं मानना चाहिए। यह स्पष्ट है कि शुक्लजी चमत्कारों को काव्य का सर्वस्व नहीं कहते। वे तो सुन्दर प्रस्तुत वस्तु के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले हैं। वे कहते हैं कि सुन्दर भाव की शोभा बढ़ाने में जो चमत्कार प्रयुक्त नहीं वे काव्यालंकार नहीं। वे ऐसे ही हैं जैसे शरीर पर से उतार कर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहना का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशा है।

अलंकार वास्तव में अप्रस्तुत रूप-व्यापार के विधान हैं। यह सारा विधान साम्य भावना के आधार पर ही होता है। शुक्लजी ने इस साम्य भावना को भी स्पष्ट करने का यत्न किया है। केवल शब्द या नाम की समानता के आधार पर की गई अप्रस्तुत भावना किसी भाँति भावोद्बोधक नहीं हो सकती। यह तो केवल बालबुद्धि चमत्कार पूर्ण खेल या तमाशा ही है। रूपरंग की समानता पर भी जो अप्रस्तुत उपमान लाए जाएँगे वे भी तभी काव्योपयोगी माने जाएँगे जब वे प्रस्तुत के सौन्दर्य आदि की भावना में कुछ वृद्धि करेंगे। सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौन्दर्य दीप्ति कान्ति कोमलता प्रचण्डता भीषणता उग्रता उदासी खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते हैं। जैसे क्रोधी व्यक्ति के क्रोध की भावना को स्पष्ट करने में लाल आँखों के उपमान के रूप में लाल कमल के स्थान पर लाल अंगार का विधान अधिक उपयुक्त होगा। रूप रंग की, धर्म या क्रिया की समानता की मात्रा यदि पर्याप्त अल्प हो तो भी प्रभाव की समता के आधार पर यदि अप्रस्तुत भावना की जाएगी तो

वह काव्योपयोगी मानी जाएगी और जहाँ चमत्कार का जो रूप उपस्थित होगा वह काव्य की आत्मा-भाव को काव्य के शरीर-शब्द विधान को प्रस्तुत करने वाला होकर उपादेय समझा जाएगा।

काव्य भाषा—शुक्लजी ने काव्य भाषा की सबसे पहली विशेषता 'चित्रात्मकता' स्वीकार की है। इसी से भाषा में चित्रमयता गुण का आविर्भाव होता है। काव्य भाषा में दूसरी विशेषता ऐसे शब्द समूह की रहती है जिनसे किसी विशेष रूप या व्यापार की सूचना मिलती है। तीसरी विशेषता वर्ण-विन्यास के विशिष्ट रूप से उत्पन्न होती है। शब्द विधान में प्रयुक्त वर्णों की समान रचना आवृत्ति आदि से एक ऐसी लय की सृष्टि होती है जो कि काव्य भाषा में नाद सौन्दर्य उत्पन्न करके मर्मस्पर्शिनी बना देती है। शब्दालंकार प्राय इसी वर्ण-विन्यास के आधार पर कल्पित किये गए हैं। चौथी विशेषता व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप-गुण या कर्म बोधक शब्दों के व्यवहार से उत्पन्न होती है। यदि ऐसे शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक और अर्थ गर्भित हुआ तो इससे सुनने वाले की भावना के निर्माण में पर्याप्त उपयोग लिया जा सकता है।

काव्य के भेद—शुक्लजी ने काव्य के भेदों का उल्लेख करते हुए दो आधार कल्पित किये हैं—१ अनुरंजन २ मर्मबोध। यदि अनुरंजन से लोक मंगल या आनन्द का पक्ष ग्रहण किया जाए तो आनन्द की अवस्था एवं स्वरूप भेद से काव्य के दो भेद हो जाएँगे। १ आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य २ आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य। काव्य के इन दोनों रूपों में से आनन्द की साधनावस्था को लेकर चलने वाले काव्य शुक्लजी की रुचि और प्रकृति के अधिक अनुकूल हैं। ऐसे ही काव्य में जीवन की अनेक परिस्थितियों का चित्रण किया जा सकता है। जीवन के प्रकाश और अन्धकार पक्ष इसी रूप में मिल सकते हैं। इसके अतिरिक्त मानव के सभी भावों का साक्षात्कार भी इसी रूप के द्वारा हो सकता है। ऐसे काव्यों का बीज भाव करुणा होता है और इससे ही वास्तव में आनन्द-मंगल का विधान हो सकता है। मंगल

का विधान करने वाले करुणा और प्रेम ये दो भाव प्रमुख हैं। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजना की ओर। लोक में प्रथम साध्य रक्षा है। रंजन का अवसर उसके पीछे आता है। इसीलिए साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों को प्रमुखता दी जा सकती है।

काव्य-विभाग का दूसरा आधार अर्थ-बोध है। काव्य के मूल रूप में कल्पित अर्थ बोध की प्रधानता रहती है। यह अर्थबोध भाव चमत्कार से संश्लिष्ट होकर ही काव्य का आधार बन सकता है। अर्थ और भाव के सम्बन्ध की मात्रा की विभिन्नता के आधार पर ही काव्य के पाँच भेद शुक्लजी ने किये हैं—१ श्रव्य काव्य २ दृश्य काव्य ३ कथात्मक गद्य काव्य ४ भावात्मक गद्य प्रबन्ध या लेख ५ विचारात्मक निबन्ध या लेख।

श्रव्य काव्य कविता—कविता के स्वरूप पर शुक्लजी ने बड़े विस्तार से विचार किया है। कविता ही काव्य का वह रूप है जिसमें भाव चमत्कार की मात्रा अन्य सब रूपों से अधिक होती है। इस रूप में काव्य के दो तत्त्वों में से भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन ही प्रधानता प्राप्त कर लेता है। अर्थ बोध का प्रभुत्व गौण रूप में रहता अवश्य है परन्तु इस लक्ष्य की पूर्ति परोक्ष रूप से ही की जाती है। शुक्लजी ने कविता का यह लक्षण दिया है—

"हृदय की मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।"

शुक्लजी के इस लक्षण में प्राचीन भारतीय रसानुभूति का तत्त्व स्पष्ट झलकता है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य दृष्टिकोण से भी इसकी विवेचना की जा सकती है। हृदय की मुक्ति का सम्बन्ध भाव तत्त्व के अन्तर्गत माना जा सकता है। 'शब्द विधान' को कल्पना तत्त्व का उपलक्षण माना जा सकता है क्योंकि कल्पना का कार्य शब्द विधान में सहायक है। 'मनुष्य की वाणी' से शैली तत्त्व को ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार पाश्चात्य-काव्य दर्शन के आधार पर यदि उनके कविता लक्षण की समीक्षा की जाए तो ऐसा आभास होता है कि इसमें विचार तत्त्व की उपेक्षा की गई है। गम्भीरता के

उनके विचारों का यदि अनुशीलन किया जाए तो इस बात की पुष्टि नहीं होती। उन्होंने अपने लक्षण में 'हृदय' का ग्रहण करके बुद्धि तत्त्व का भी समावेश कर लिया है क्योंकि वे ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त भाव के स्वरूप के प्रथम अवयव के रूप में उन्होंने अर्थ बोध को स्वीकार किया है। इस प्रकार भाव के साथ अर्थ का योग स्वतःसिद्ध होने के कारण 'हृदय' के ग्रहण से भाव और विचार दोनों तत्त्वों का निवेशन हो गया है। कविता के रूप में भाव की प्रधानता रहने के कारण उसका ही प्रत्यक्षतः ग्रहण कर लिया गया है।

इस लक्षण में 'छन्दोबद्धता' का भी उल्लेख नहीं हुआ है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे कविता के लिए 'छन्दोबद्धता' को आवश्यक नहीं समझते। इस सम्बन्ध में उनकी उक्ति प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है—

'छन्द और लय (Rhythm) के विषय में विचार करते समय इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि कविता एक बहुत ही पूर्ण कला है। इस पूर्णता के लिए वह संगीत और चित्र कला दोनों की पद्धति का थोड़ा-बहुत सहारा लेती है। छन्द वास्तव में बँधी हुई लय के भीतर भिन्न-भिन्न ढाँचों का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है। लय-स्वर के चढ़ाव-उतार के छोटे-छोटे ढाँचे ही हैं जो किसी छन्द के चरण के भीतर व्यस्त रहते हैं।

छन्द लय के प्रत्येक ढाँचे की मात्रा और उनके परस्पर योग की मात्रा का निर्धारण कर देता है और इस प्रकार कविता के लय स्वर से पाठक भी परिचित हो जाता है। अन्यथा लय के अभाव रहने से पाठक कवि के भाव सौन्दर्य की अनुभूति नहीं कर सकता है। इस धारणा से यह स्पष्ट है कि शुक्लजी छन्द के बन्धन का सर्वथा त्याग उपादेय नहीं समझते। नए-नए छन्दों के विधान से उनको कोई आपत्ति नहीं है। चरणों के छोटे-बड़े रहने में भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं। वे भिन्न-भिन्न छन्दों के दो-दो चरण रखते हुए रचना करने में कोई हानि नहीं समझते। जो कविता में केवल लय से उत्पन्न होने वाले नाद सौन्दर्य को ही पर्याप्त समझते हैं उनसे शुक्लजी सह-

मत नहीं है। वे इस बात में भी कोई सार नहीं समझते कि छन्द के बन्धन में विचार के पर बँध जाते हैं और कल्पना के पर सिमट जाते हैं। वे कहते हैं कि छन्दोबद्ध रचना करने वाले महाकवियों के भाव और विचार बड़ी स्वच्छन्दता से कविताओं में स्थान पाते रहे हैं।

कविता और वाद—गुप्तजी की धारणा के अनुसार सच्ची कविता किसी दार्शनिक 'वाद' को लेकर नहीं चलती। वह तो उन हृदय के भावों का समावेश करना चाहती है जो इस व्यक्त जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के प्रति उत्पन्न होते हैं। दार्शनिक वाद तत्त्व चिन्तन के—बुद्धि प्रयास के—परिणाम होते हैं। ये ज्ञान क्षेत्र के विषय हो सकते हैं। कविता में ज्ञान को प्रवेश तभी मिल सकता है जब कि उसका आधार लेकर कल्पना या भावना उठ खड़ी होती है अर्थात् जब उसका संचार भावपक्ष में होता है अन्यथा नहीं।

रहस्यवाद—यदि गम्भीरता से उनकी धारणाओं का विश्लेषण किया जाए तो हम देखेंगे कि वे हिन्दी काव्यधारा में रहस्यवादी धारा के प्रचलित होने के विरोधी नहीं परन्तु वे इसे काव्य का सामान्य स्वरूप स्वीकार करना नहीं चाहते। इसके अतिरिक्त वे इसे रहस्य भावना के रूप में तो ग्रहण करने को उद्यत हैं पर दार्शनिक वाद के रूप में वे इसे काव्य में स्थान देना नहीं चाहते हैं। उनकी धारणा के अनुसार आधुनिक रहस्यवाद अपनी अभिव्यक्ति में तटस्थ है वह जीवन से भावभूमि से निरपेक्ष है, उसमें कल्पना की झूठी कलाबाजी है भावों की नकली उछल-कूद और वैचित्र्य-विधायक कृत्रिम शब्दभंगी है अतएव वे इसे इसी रूप में काव्य के सामान्य स्वरूप के क्षेत्र से नहीं देखना चाहते।

रहस्यवाद के आविर्भाव के सम्बन्ध में भी शुक्लजी कहते हैं कि भारतीय तथा यूनानी तत्त्व चिन्तकों दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद सामी पैगम्बरी मतों—यहूदी ईसाई, इस्लाम में रहस्यवाद के रूप में आविर्भूत हुआ क्योंकि इन मतों में मानव की स्वाभाविक बुद्धि का ज्ञान में विशेष स्थान नहीं है। भारतवर्ष में यह अद्वैतवाद ज्ञान क्षेत्र में ही अपना प्रचार

कर सका। भारत में दर्शन के नानावादों को काव्यक्षेत्र में प्रतिष्ठा की प्रथा न थी। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि अनेक वेदान्तीवाद प्रचलित हुए पर काव्य क्षेत्र में भक्ति काव्य में भी वे दूर ही रह गए। निर्गुण सम्प्रदाय के कबीर आदि ने सूफियों की नकल पर अद्वैतवाद, मायावाद, प्रतिबिम्बवाद आदि दार्शनिक वादों के तथ्यों की व्यंजना विभिन्न रूपक, साम्य प्रधान रूपकों तथा अन्योक्तियों के माध्यम से करते रहे हैं। यहाँ माया, पंचेन्द्रिय, जीवात्मा, परलोक आदि को लेकर कबीर ने जो अनेक पूर्णरूपक बद्ध किये हैं, प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। निर्गुण सम्प्रदाय के कवियों की कुछ रूप योजनाएँ ऐसी भी हैं जिनमें सर्वस्वीकृत सर्वानुभूत तथ्यों को भाव क्षेत्र में लाने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। ऐसी रूप योजना उस रूप योजना से जिसमें केवल अद्वैतवाद के स्पष्टीकरण का ही प्रयास है—अधिक मर्मस्पर्शिनी है अतएव इसे काव्य क्षेत्र में ग्रहण किया जा सकता है। तुलसी का कथन यह है कि वाद या सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित बातों का स्वभाव सिद्ध तथ्यों के रूप में चित्रित करना और उनके प्रति अपने भावों का वेग प्रदर्शित करके अन्यों के हृदय में उस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा करना सच्चे कवि का काम नहीं। मनुष्य के हृदय को इस प्रकार स्वाभाविक मार्ग से हटाकर इधर-उधर भटकाने की चेष्टा करना वे उचित नहीं समझते।

अद्वैतवाद के दो पक्ष कल्पित किये जा सकते हैं—आत्मा और परमात्मा की एकता तथा ब्रह्म और जगत् की एकता। दोनों मिलकर सर्ववाद की प्रतिष्ठा करते हैं। रहस्यवाद के मूल में प्रायः ये दोनों ही रूप विद्यमान हैं। तुलसी के विरोध का अधिकतर आधार पहले अर्थात् आत्मा और परमात्मा की एकता का पक्ष ही है। यह पक्ष शुद्ध रूप से ज्ञान क्षेत्र का विषय है। अरब, फारस तथा योरोप में इस पक्ष को रहस्यभावना के रूप में ग्रहण कर लिया गया और परिणामस्वरूप रहस्योन्मुख सूफियों और पुराने कैथलिक ईसाई भक्तों की साधना प्रधान रूप से माधुर्य भाव की ओर प्रवृत्त हुई। इस प्रकार उस अज्ञात, अव्यक्त एवं अगोचर ब्रह्म के प्रति प्रेम और मिलन की

अभिलाषा को लेकर आत्म निवेदन प्रारम्भ हुआ। शुक्लजी के विरोध की मूल युक्ति यही है कि तत्त्व दृष्टि से मनोविज्ञान की दृष्टि से साहित्य की दृष्टि से अज्ञात के प्रति प्रेम या लालसा सम्भव नहीं है। ये दोनों हृदय की अन्तर्वृत्तियाँ हैं। इनका अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। व्यक्त और गोचर के प्रति ही इन भावनाओं का प्रकाशन हो सकता है। प्रेम के लिए परिचय चाहिए—चाहे पूरा—चाहे अधूरा। इसी प्रकार लालसा मिलन की अभिलाषा भी ऐसी वस्तुओं के प्रति होती है जिसकी प्राप्ति या साक्षात्कार से सुख और आनन्द होता है फलतः अव्यक्त और अगोचर के प्रति लालसा का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः शुक्लजी कहते हैं कि जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं जिसकी अनुभूति से वास्तव में हमारे हृदय में स्पन्दन नहीं हुआ उसकी व्यंजना या आडम्बर रचकर दूसरों का समय नष्ट करना उचित नहीं है। ऐसे लोगों को तो काव्य क्षेत्र से निकल कर साम्प्रदायिकों के बीच में आकर ही अपना हाव-भाव प्रदर्शित करना चाहिए। असीम और अनन्त ब्रह्म की भावना के लिए भी अज्ञात या अव्यक्त की ओर झूठे इशारे करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनका यह दृढ़ विश्वास कि अज्ञात की जिज्ञासा का तो कुछ अर्थ हो सकता है उसकी लालसा या प्रेम का नहीं। भारतीय दृष्टि के अनुसार भी अज्ञात और अव्यक्त के प्रति केवल जिज्ञासा ही हो सकती है। जिज्ञासा और लालसा में अन्तर होता है। जिज्ञासा केवल ज्ञेय वस्तु के स्वरूप को जानने की इच्छा मात्र है। ज्ञेय वस्तु के प्रति राग द्वेष प्रेम आदि भावों का उसके साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत लालसा रति भाव का अंग है। अतः यह स्पष्ट है कि एक का सम्बन्ध ज्ञान के साथ और दूसरी का सम्बन्ध भाव के साथ है। इसी आधार पर शुक्लजी अव्यक्त ब्रह्म की जिज्ञासा को तो स्वीकार करने को उद्यत हैं परन्तु उसकी लालसा को नहीं। वे अव्यक्त अलौकिक और अज्ञात की अभिलाषा को सर्वथा विदेशी कल्पना ही मानते हैं। श्री शंकराचार्य ने व्यवहार पक्ष में उपासना के लिए सोपाधि सगुण ब्रह्म की ही प्रतिष्ठा की है अव्यक्त पारमार्थिक सत्ता की नहीं। दूसरे शब्दों

में भी शंकर ने यह प्रतिपादित किया है कि अव्यक्त निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म उपासना के व्यवहार में सगुण ईश्वर हो जाता है। अतः उपासना जब होगी तब व्यक्त और सगुण की ही होगी। इस प्रकार काव्य क्षेत्र में भी यदि ब्रह्म के प्रति भावों का प्रकाशन होगा तो ब्रह्म के मूर्त एवं व्यक्त रूप 'जगत्' के प्रति ही होगा।

यदि यह कहा जाए कि इस व्यक्त जगत् में सुख और आनन्द दुःख और क्लेश के साथ घुला-मिला रहता है। इसके अतिरिक्त सुख और आनन्द की मात्रा भी जगत् में इतनी स्वल्प होती है कि मानव सुख-सौन्दर्य की आनन्दमयता की पूर्णता की भावना करने के लिए अव्यक्त एवं अलौकिक क्षेत्र में जाने के लिए विवश हो जाता है। इस सम्बन्ध में शुक्लजी कहते हैं कि इस प्रकार की पूर्णता की भावना करने के लिए मानव के अलौकिक क्षेत्र में विचरने की बात विदेशी कल्पना है, भारतीय नहीं। भारतीय कल्पना इस पूर्णता के लिए यदि कहीं गई है तो विशेषतया दो क्षेत्रों के भीतर ही गई है। या तो वह इस भूलोक के बाहर पर व्यक्त जगत् के भीतर ही किसी अन्य लोक में गई है या इस भूलोक के भीतर ही पर अतीत के क्षेत्र में गई है। ये दोनों ही क्षेत्र मानव कल्पना के लिए स्वाभाविक कहे जा सकते हैं। पृथ्वी पर रहता हुआ भी मानव व्यक्त जगत् की अनन्तता का आभास अनुभव करता रहा है। अनन्त आकाश के बीच नक्षत्रों के वृहत् मण्डल को देखकर मानव की कल्पना ने अनन्त लोकों की सृष्टि की है और वहीं स्वर्ग लोक या पुण्य लोक स्वीकार किया। इस प्रकार इन लोकों में मानव ने अपने आनन्दमंगल की पूर्णता की चरमसीमा की भावना करके असीम परितृप्ति की अनुभूति की है। धार्मिक क्षेत्र में तथा काव्यक्षेत्र में इस प्रकार की भावना को समान रूप से स्थान दिया जा सकता है और दिया जाता रहा है। इसी प्रकार अतीत के क्षेत्र में विचार कर भी मानव कल्पना को सुख-सौन्दर्य की पूर्णता की भावना करने का अवसर मिल सकता है। निस्सन्देह 'अतीत का राग' एक बहुत प्रबल भाव है। अतीत और हमारा सम्बन्ध बहुत पुराना है। उसे हम जानते हैं पहचानते हैं, इसीलिए प्यार

करते हैं। अतः अतीत के प्रति भावनाओं का प्रकाशन भी काव्य क्षेत्र में समुचित स्थान प्राप्त कर सकता है।

आधुनिक योरोपीय कविताओं में भूलोक के भीतर ही भविष्य के गर्भ में कल्पना का प्रसार कर अपने सुख-सौन्दर्य की पूर्णता की भावना की जाती है। भविष्य का सुख-स्वप्न उन कविताओं का प्रधान लक्षण है। यदि सच्ची दशा से विचार किया जाय तो यह सुख-स्वप्न एक प्रकार से भविष्य की उपासना या भविष्य का प्रेम नहीं अपितु यह प्रस्तुत वर्तमान जीवन का प्रेम ही है। भविष्य का प्रेम अस्वाभाविक है। जीवन प्रेम के संचारी रूप में उत्पन्न होकर आशा का भाव मानव के जीवन के पूर्ण सौन्दर्य आनन्द का दर्शन कराता है। इसी रूप में भविष्य के सुख स्वप्नों को काव्य क्षेत्र में स्थान दिया जा सकता है। अपने सुख-सौन्दर्य की आनन्दमयता की पूर्णता की भावना के लिए व्यक्त जगत् के असीम अनन्त एवं विस्तृत क्षेत्र का परित्याग करना सर्वथा विरोधी कल्पनाएँ हैं। इन्हीं कल्पनाओं के आधार पर योरोपीय रहस्यवाद की प्रतिष्ठा हुई है। शुक्लजी इसी रहस्यवाद का विरोध करते हैं।

योरपीय रहस्यवाद शुक्लजी की दृष्टि में साम्प्रदायिक रहस्यवाद है। सूफियों के प्रतिबिम्बवाद से ही उसे प्रेरणा मिली है। सूफियों ने अपने धार्मिक विश्वासों के अनुकूल अफ़लातून को प्रतिबिम्बवाद के रूप में ग्रहण किया। इस वाद के अनुसार यह नाम-रूपात्मक दृश्य जगत् ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। दृश्य जगत् में जो नाना रूप दिखाई पड़ते हैं वे तो अनित्य हैं पर रूपों की जो भावनाएँ या कल्पनाएँ होती हैं वे अनित्य नहीं हैं। वे कल्पना चित्र नित्य हैं। इन्हीं कल्पना चित्रों से उस आत्म जगत् को जान सकते हैं जिसे 'आलमे मिसाल' और 'आलमे ख्याल' भी कहते हैं। सूफियों की धारणा के अनुसार स्वच्छ शीशे पर किसी वस्तु का जो रूप दिखाई पड़ता है वही उस वस्तु की आत्मा या सार सत्ता है।

सूफियों की उक्त धारणा के आधार पर इंग्लैण्ड के रहस्यवादी कवि विलियम ब्लेक ने अपने कल्पनावाद की प्रतिष्ठा की और यह कहा कि—

"कल्पना का लोक नित्य लोक है। यह शाश्वत और अनन्त है। उस नित्य लोक में उन सब वस्तुओं की नित्य और पारमार्थिक सत्ताएँ हैं जिन्हें हम प्रकृति रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित देखते हैं।"

शुक्लजी कहते हैं कि सूफियों के कल्पनावाद के अनुरूप ही प्लेटो ने दृश्य जगत् से परे 'परम कल्पना' का प्रतिपादन 'परम आत्मा' के समान किया और मानव कल्पना को उस 'परम कल्पना' का अंश माना है। प्रकृति के नाना रूपों को उसी की छाया कह दिया। इस प्रकार कल्पना को इल्हाम बनाकर कवियों को पैगम्बर का रूप देकर काव्य के पुनीत क्षेत्र में आडम्बर का रास्ता खोल दिया।

प्लेटो के सहस्रों वर्ष पीछे एक प्रतीक रहस्यवाद चला। उसमें भी कल्पना को यही इल्हामी रूप दिया गया और यह माना गया कि कल्पना दूसरे के अन्तःकरण में अज्ञात रूप से प्रवेश पा लेती है। बैठे-बैठे अन्य देश और अन्य काल की घटनाएँ देख लेती है। इस प्रकार ससीम-असीम के राग की धूम उठने लगती है। योरोपीय साम्प्रदायिक रहस्यवाद में प्लेटो का कल्पनावाद क्रोचे का अभिव्यंजनावाद तथा कलावाद का सम्मिश्रण हुआ है। इस प्रकार का रहस्यवादी पूर्ण गोचर को सामने पाकर अगोचर अलौकिक की अपनी लालसा प्रकट करता है। कल्पना में आए हुए रूप वस्तुतः गोचर प्रकृति ही के हैं। हमारे भाव वस्तुतः बाह्य प्रकृति के गोचर रूपों ही के प्रति होते हैं इसीलिए कल्पना में आई उनकी छाया भी हम ग्रहण कर लेते हैं। बाह्य प्रकृति के गोचर रूप-व्यापार ही हमारे हृदय के भावों के आलम्बन होते हैं साम्प्रदायिक रहस्यवादी उक्त कल्पनावाद का सहारा लेकर अनुभूति के स्वाभाविक क्रम का विपर्यय कर देते हैं अर्थात् वे हमारे हृदय के मूल आलम्बनों को छाया और छाया को मूल आलम्बन बनाकर काव्य क्षेत्र में एक बहुत बड़ा आडम्बर खड़ा कर देते हैं। इसी कारण ऐसे रहस्यवादियों के द्वारा की गई भावाभिव्यंजना असत्य तथा भद्दी नकली जान पड़ती है। यद्यपि रहस्यवादी की अन्य रूप-योजना और उसके प्रति भावाभिव्यंजना बाह्य गोचर प्रकृति के ही आकर्षण या प्रेम से प्रेरित होती है और उसी के

प्रति होती है, परन्तु वह पाठक के मन में अपनी साम्प्रदायिक भावनाओं का माध्यम लेकर ऐसी झूठी प्रतीति उत्पन्न करना चाहता है कि उसके भाव इन कल्पित छायात्मक रूपों के प्रति सर्वथा नहीं है यह तो इन रूपों के परे जो अगोचर और अव्यक्त पारमार्थिक सत्ता है उसके प्रति है। अपनी इसी असत्य भावना को प्रकट करने के लिए वह अभिव्यञ्जना रीति में भी अभी कितना अस्वाभाविकता विचित्रता लाने का यत्न करता है। भावों की असत्यता और व्यंजना की इसी कृत्रिमता के ही कारण शुक्लजी को इस रहस्यवादी प्रवृत्ति के प्रति विरक्ति उत्पन्न हुई है। वास्तव में वे स्वाभाविक रहस्य भावना के विरोधी नहीं है। ब्रह्म और जगत् की एकता की अनुभूतियों में उन्हें सर्वात्म की अखण्ड तथा सत्यता स्वाभाविकता की प्रतीति हुई है। इसी एकता का आधार लेकर बुद्धि प्रयास द्वारा प्रतिष्ठापित सर्ववाद का सहारा पाकर जब किसी भक्त कवि की मनोवृत्ति रहस्योन्मुखी होती तब वह अपने को जगत् के नाना रूपों के सहारे उस परोक्ष सत्य की ओर ले जाता हुआ जान पड़ता यह एक स्वाभाविक रहस्य भावना होती। इस भावना के आलम्बन व्यक्त जगत् के ही होंगे। इसके लिए किसी छायात्मक रूपों का आलम्बन कल्पित करना नहीं पड़ेगा। यह स्वाभाविक रहस्य भावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है। शुक्लजी इसे अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियों में से एक मनोवृत्ति या अन्तर्दशा (Mood) मानते है। अन्यान्य अनुभूतियों के साथ सच्चे कवि इस मनोवृत्ति का भी अनुभव कर सकते हैं।

स्वाभाविक रहस्य भावना का मूल—शुक्लजी कहते हैं 'अज्ञात की राग मानव की प्रवृत्ति को रहस्योन्मुख कर देता है। ज्ञान का राग जिस प्रकार बुद्धि को नाना तथ्यों के अनुसन्धान की ओर प्रवृत्त करता है और उसकी सफलता पर सन्तुष्टि अनुभव करता है उसी प्रकार 'अज्ञात का राग मनुष्य को ज्ञान के प्रसार के साथ-ही-साथ फैलते हुए अज्ञान के अन्धकार का धुंधलापन की ओर आकर्षित करता है। इस स्थिति में बुद्धि की असफलता की विशेष तुष्टि प्रदान करने लगती है। इस चित्त की स्थिति

विभूति के भीतर अनेक ऐसे रूप हैं जिनके प्रति मानव-बुद्धि प्रयास करने के अनन्तर भी हार-थक जाती है उस समय यही वृत्ति उसे एक सन्तुष्टि प्रदान करती है। विश्व के नाना रूप मानव की कल्पना में विद्यमान अनेक आध्यात्मिक रूपों के आलम्बन बन जाते हैं और इसे आनन्द मग्न करते सकते हैं। यही सच्ची रहस्य भावना है जो काव्य के लिए उपयोगी कही जा सकती है। यह एक प्रकार से जिज्ञासा से उत्पन्न होने वाली रहस्य भावना है। इसके साथ किसी साम्प्रदायिक भावना या वाद के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है। इसके साथ तो प्रकृति के रूप के किसी अनिर्व्यक्त सौन्दर्य या माधुर्य से उठे हुए आह्लाद की अनुभूति का सम्मिश्रण रहता है। ऐसे सौन्दर्य के प्रति हृदय से उत्पन्न हुई उत्सुकता या अभिलाषा वस्तुतः व्यक्त या ज्ञात के प्रति ही होगी।

जिज्ञासा से उत्पन्न रहस्य भावना कभी-कभी अज्ञात की ओर भी संकेत करती जाती है। ऐसी स्थिति में यदि केवल अज्ञात की ओर अनिश्चित संकेत मात्र रहते हैं तो उसे काव्य क्षेत्र में ग्रहण किया जा सकता है। जब इस स्वाभाविक अनुभूति की सीमा से आगे बढ़कर कोई उस अज्ञात को अभ्यस्त और अगोचर कहने लगता है और उसका चित्रण भी पूरे ब्यौरे के साथ करने लगता है तब एक प्रकार से वह अपनी दिव्य दृष्टि की छाप अन्य हृदयों पर अंकित करने का अनुचित प्रयास करता है। तात्पर्य यह है कि शुक्लजी किसी वाद को आधार बनाकर इस रूप में चलने वाली रहस्यानुभूति को काव्य में स्थान नहीं देना चाहते हैं।

अभिव्यंजनावाद—साम्प्रदायिक रहस्यवाद के मूल में शुक्लजी के कथनानुसार इटली निवासी क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी है। अभिव्यंजनावाद के मूल में कलावाद अर्थात् 'कला कला ही के लिए है' यह सिद्धान्त विद्यमान है। कलावाद यह कहता है कि जिस प्रकार बेल-बूटे और नक्काशी का सम्बन्ध जगत् या जीवन की किसी वास्तविक दशा स्थिति या तथ्य से नहीं होता उसी प्रकार काव्य का भी नहीं होता। शिल्पकार या कलाकार के मन में सौन्दर्य की भावनाएँ जिन रूप-रेखाओं या आकारों में प्रस्फुटित

होती है उन्हीं रूपों और आकारों को वह बेल-बूटों और नक्काशियों में अभिव्यंजित कर देता है। वे बेल-बूटे कल्पना की स्वतन्त्र सृष्टि होते हैं। जीवन के किसी वास्तविक तथ्य भाव या विचार के रूप में उनका अर्थ ढूंढना व्यर्थ है। अपने अर्थ वे ही हैं। यही बात काव्य के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए।

शुक्लजी उक्त धारणा को स्वीकार नहीं करते हैं वे यह नहीं मानते हैं कि काव्य का प्रभाव या उद्देश्य मूर्ति निर्माण चित्रकला भवन निर्माण कला के समान केवल मनोरंजन होता है। इसी कारण वे काव्य को सामान्य कला के रूप में ग्रहण करना नहीं चाहते हैं। वे कला शब्द को काव्य समीक्षा में ही देखना नहीं चाहते हैं। वे तो इससे भी अपना पीछा छुड़ाना चाहते हैं। इस प्रकार वे प्राचीन भारतीय आचार्यों का ही समर्थन करते हैं जिन्होंने काव्य को चौंसठ कलाओं से पृथक मानकर ही उसकी मीमांसा की है। क्रोचे ने उक्त कलावाद की धारणा को शास्त्रीय रूप देने का प्रयास अपने 'सौन्दर्य शास्त्र' में किया। इस प्रकार उसने अपने अभिव्यंजनावाद का प्रवर्तन किया और काव्य को कला के अन्तर्गत मानकर यह कहा कि अभिव्यंजना से अलग कोई अभिव्यंग्य वस्तु या अर्थ नहीं होता है। काव्य की उक्ति किसी दूसरी उक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं करती है। इसी धारणा के अनुसार मानव की अन्तः प्रकृति के साथ शारीरिक चेष्टाएँ तथा बाह्य प्रकृति के विभिन्न रूप और व्यापार काव्य में उपादान सामग्री के रूप में हैं। इस अवस्था में उनमें परस्पर प्रस्तुत-अप्रस्तुत या अलंकार्य-अलंकार का कोई प्रश्न नहीं हो सकता है।

इसके अतिरिक्त अभिव्यंजनावाद में अभिव्यंजना के व्यवसाय को इस जगत् और जीवन से स्वतन्त्र-बाह्य प्रकृति और अन्तः प्रकृति से परे-आत्मा की अपनी निजी क्रिया माना गया है। क्रोचे ने आत्मा की दो क्रियाएं — विचारात्मक और व्यवहारात्मक वर्णित की हैं। विचारात्मक क्रिया के भी दो भेद किये हैं—कल्पना सम्बन्धी ज्ञान और तर्क सम्बन्धी ज्ञान। कल्पना सम्बन्धी ज्ञान के अन्तर्गत स्वयं प्रकाश ज्ञान अर्थात् कल्पना से उद्भूत ज्ञान—किसी

एक विशेष वस्तु का ज्ञान—लिया है। स्वयंप्रकाश ज्ञान मन में बिना बुद्धि की क्रिया के उठी हुई मूर्त भावना है। यह मूर्त भावना या कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया है जो दृश्य जगत् के नाना रूपों और व्यापारों को द्रव्य या उपादान की तरह लेकर हुआ करती है। कल्पना उस स्थूल द्रव्य को लेकर एक रूप ढाँचा खड़ा करती है और उस द्रव्य को साँचे में ढालकर अपनी कृति को गोचर या व्यक्त करती है। इस प्रकार कला के क्षेत्र में यह ढाँचा (Form) ही सब कुछ है। द्रव्य या सामग्री ध्यान देने की वस्तु नहीं। संक्षेप में यदि कहा जाए तो स्वयंप्रकाश ज्ञान का साँचे में ढलकर व्यक्त होना ही कल्पना है और कल्पना ही मूल अभिव्यंजना है जो भीतर होती है और शब्द, रंग आदि द्वारा बाहर प्रकाशित की जाती है। क्रोचे के अनुसार कला की अभिव्यंजना का क्रम निम्नलिखित रूप से कहा जा सकता है—

१ मनःसंस्कार २ अभिव्यंजना अर्थात् कला परक आध्यात्मिक भावना या कल्पना ३ सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न आनुषंगिक आनन्द ४ कला परक आध्यात्मिक वस्तु (कल्पना) का स्थूल भौतिक रूपों में अवतरण।

उक्त चारों विभागों के पूरा हो जाने पर अभिव्यंजना का अनुष्ठान पूर्ण हो जाता है। यह स्पष्ट है कि क्रोचे के इस अभिव्यंजनावाद में 'कल्पना पक्ष' को प्रधानता दी गई है और उसे ज्ञानात्मक कहा गया है। शुक्लजी भारतीय रस सिद्धान्त के अनुसार कल्पना का मूलरूप भावात्मक स्वीकार करते हैं। भावानुभूति के योग में ही कल्पना का स्थान काव्य-विधान में माना जा सकता है। भाव द्वारा प्रेरित होकर भाव का प्रवर्तन करनेवाली कल्पना ही उनकी दृष्टि में काव्य विधायिनी मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त कल्पना में उठे हुए रूपों को—प्रतीति-मात्र को ज्ञान कहना भी वे उचित नहीं समझते। इस प्रकार अपनी प्रिय अन्तर्दशा को ज्ञान की संज्ञा देकर महत्त्व देने का प्रयास ही माना जा सकता है। इससे तो अपनी सामान्यतः बेठौर-ठिकाने की अन्तर्दशा भी ज्ञान की संज्ञा पाकर आध्यात्मिक या पारमार्थिक ज्ञान का कल्पित रूप धारण कर सकती है। शुक्लजी कल्पना

में आए हुए रूपों को बाह्य जगत् के रूपों की छाप ही मानते हैं उन्हें आत्मा की क्रिया नहीं मानते। अभ्यान्तरों और भाव भाषा की कल्पना में इसी कारण पर्याप्त विषमता सिद्ध की जा सकती है।

क्रोचे की इस बात से भी शुक्लजी सहमत नहीं हैं कि प्रकृति के नाना रूप व्यापार जीवन की भिन्न-भिन्न घटनाएँ या तथ्य द्रव्य या उपादान मात्र हैं अतः इनके औचित्य-अनौचित्य के विचार की आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं कि लोक की रीति-नीति आचार-व्यवहार की दृष्टि से अनौचित्य (शिल्प अर्थात् बेल-बूटे नक्काशी आदि की सौन्दर्य भावना में तो कोई बाधा नहीं डालता पर काव्य का प्रभाव कभी-कभी बहुत हलका कर देता है। भारतीय रस सिद्धान्त की दृष्टि से यदि भाव-व्यंजना में भाव अनुचित है ऐसे के प्रति है जैसे के प्रति न होना चाहिए तो रस दशा के लिए अपेक्षित साधारणीकरण नहीं हो सकेगा श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव की रसात्मक अनुभूति ग्रहण न करेगा। यह स्पष्ट है कि शुक्लजी इंगलैण्ड के प्रसिद्ध समालोचक आई० ए० रिचर्ड्स के अनुरूप सदाचार से काव्य कला का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

क्रोचे कला में अनुभूति को महत्व देना चाहते क्योंकि अनुभूति के सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्ष होते हैं। काव्य में प्रायः इन दोनों पक्षों की व्यंजना रहती है। यदि अनुभूति को महत्व दिया जायगा तो दुःखात्मक अनुभूति के लिए काव्य रचना या पठन व श्रवण अव्यावहारिक हो जायगा। अतः काव्यानुभूति को भावानुभूति के रूप में स्वीकार ही नहीं करना चाहिए। शुक्लजी कहते हैं कि क्रोचे द्वारा उपस्थित प्रश्न बहुत पुराना है। भारतीय साहित्य ग्रन्थों में जो इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया गया है यद्यपि वह पूर्ण सन्तोषजनक नहीं है तथापि उसमें यह अवश्य सिद्ध होता है कि काव्यानुभूति या भावानुभूति के ही रूप में होती है। उसे आनन्द स्वरूप ही कहा जाए इसके लिए शुक्लजी कोई विशेष आग्रह प्रदर्शित नहीं करते हैं। वे दुःखात्मक अनुभूति की व्यंजना से उत्पन्न अनुभूति को सुखस्वरूप ही मानते हैं अर्थात् करुण भाव की अनुभूति से उत्पन्न आंसू

सुख के ही होते हैं आनन्द के नहीं परन्तु हृदय की मुक्तावस्था के कारण यह दुःख भी रसात्मक हो जाता है। इसी प्रसंग में वे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि क्रोचे भी आत्मानुभूति से पीछा नहीं छुड़ा सका है। वह द्रव्य को भावात्मकता कहता है (Matter is emotivity not aesthetically elaborated) इस भावात्मकता का यदि कोई अर्थ हो सकता है तो यही कि मन में संचित बाह्य जगत के नाना रूपों से भावों के उद्बोधन की योग्यता होती है। शुक्लजी को काव्य द्रव्य की यह परिभाषा मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

अलंकारों के सम्बन्ध में क्रोचे की यह धारणा है कि उक्ति से भिन्न अलंकार कोई वस्तु नहीं है। शुक्लजी अलंकार्य और अलंकार का भेद मानते हैं और कहते हैं कि उक्ति भले ही कितनी ही कल्पनामयी हो परन्तु उसके मूल में कोई-न-कोई प्रस्तुत अर्थ अवश्य रहता है। इसी अर्थ के आधार पर उक्ति के सौन्दर्य की परीक्षा सम्भव हो सकती है। क्रोचे कला क्षेत्र में 'सौन्दर्य' शब्द से भी उक्ति के सौन्दर्य का ही अर्थ लेता है प्रस्तुत वस्तु के सौन्दर्य का नहीं। शुक्लजी काव्य स्वरूप की दृष्टि से 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग ही उचित नहीं मानते। इसके स्थान पर 'रमणीय' शब्द का ही प्रयोग करना चाहते हैं। 'सुन्दर' शब्द बाह्यार्थ की ओर संकेत करता है और रमणीय शब्द हृदय की ओर। यह 'सुन्दर' शब्द काव्यानुभूति के स्वरूप को ही संकुचित करता है। प्रत्येक कविता का ग्रहण सौन्दर्यानुभूति के रूप में नहीं होता अतएव शुक्लजी सौन्दर्य शास्त्र में काव्यमीमांसा का प्रसंग उठाना उचित नहीं मानते हैं। उक्त सब बातों के आधार पर उन्होंने अभिव्यंजना वाद का विरोध किया है।

प्रतीकवाद—सन् १८८६ के लगभग प्रतीकवादियों का एक सम्प्रदाय फ्रांस में खड़ा हुआ जिसने अनूठे रहस्यवाद और भावोन्मादमयी भक्ति का सहारा लिया। इस वाद ने प्रतीकों के सर्वसम्मत सामान्य व्यवहार को परिवर्तित रूप में प्रस्तुत करने का यत्न किया। इसी कारण उसने परोक्ष वाद (Occultism) का सहारा लिया। प्रतीकों में भावोद्बोधिनी शक्ति

उन वस्तुओं के स्वरूपगत आकर्षण से चिर-परिचित आरोप के बल से तथा वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के प्रभाव से उत्पन्न होती है जैसे कुमुदिनी से मुखहास की चमक से मुग्ध आभा की समुद्र से विस्तार और गम्भीरता की वीणा से वाणी या प्रिया की चातक से निस्वार्थ प्रेम की प्रतीति स्वभावतः ही होने लगती है। प्रतीकवादियों ने इस स्वाभाविक प्रक्रिया को न अपनाकर एक नवीन प्रक्रिया की कल्पना की है। इसके अनुसार मन के विस्तार से महामन का स्मृति के विस्तार से महास्मृति का उद्घाटन हो जाता है। इस महामन और महास्मृति का आह्वान प्रतीकों द्वारा उसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार तान्त्रिकों के द्वारा विविध यन्त्रों या मन्त्रों द्वारा देवताओं का। इस प्रक्रिया को स्वीकार करके प्रतीकवादी यह प्रतिपादित करते हैं कि प्रकृति के जिन रूपों और व्यापारों का कवि अपनी रचना में उल्लेख करेगा व प्रतीकमात्र होंगे। कवि की दृष्टि वास्तव में उन प्रतीकों के प्रति न जानी चाहिए उन अज्ञात और परोक्ष शक्तियों के या सत्ताओं के प्रति जानी चाहिए जिनके वे प्रतीक होंगे। दूसरे शब्दों में यदि प्रकृति का वर्णन करेंगे तो उनका अनुराग प्रकृति के नाना रूपों के परदे के भीतर छिपी हुई अज्ञात और अव्यक्त सत्ता के प्रति समझना चाहिए। इस प्रकार प्रतीकवादी काव्य की रचनाओं का सम्बन्ध व्यक्त पार्थिव जगत् से हटा लेते हैं फलतः काव्य का लक्ष्य इस जगत् और जीवन से अलग हो जाता है।

शुक्लजी प्रतीकवादियों की इस प्रक्रिया को तथा लक्ष्य को यथावत् स्वीकार नहीं कर सकते परन्तु वे यह मानते हैं कि प्रतीक रूप में वस्तुओं का व्यवहार कविता में बराबर होता आता है। किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना तत्काल मन में आ जाती है उसी प्रकार काव्य में प्रतीक रूप से वर्णित वस्तुएँ भी मनोविकारों या भावनाओं को जगाने में समर्थ हो जाती हैं। जैसे कमल चन्द्र समुद्र आकाश चातक आदि प्रतीक रूप में वर्णित होकर माधुर्यपूर्ण सौन्दर्य की आभा की विस्तार की शून्यता की तथा

निःस्वार्थ प्रेम की व्यंजना कर देते हैं। काव्य में ऐसे प्रतीकों का व्यवहार होता आया है और हो सकता है। इस सम्बन्ध में यह बात विशेष ध्यान रखने के योग्य है कि थोड़े से ही प्रतीक सार्वभौम हो सकते हैं। भिन्न-भिन्न देशों की परिस्थिति और संस्कृति के अनुसार प्रतीक भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं।

प्रतीकों का व्यवहार भारतीय काव्य में प्रायः अलंकार प्रणाली के भीतर हुआ है। इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि दोनों प्रतीक और उपमान एक ही हैं। प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं होता अपितु भावोद्बोधन की शक्ति होती है। अलंकार प्रणाली में प्रयुक्त उपमानों का आधार मुख्यतः सादृश्य और साधर्म्य ही होता है। जिन उपमानों में प्रतीकत्व भी होता है उनसे काव्य की शोभा बढ़ जाती है। सारांश यह है कि शुक्लजी प्रतीक प्रयोग को काव्य में उचित समझते हैं, परन्तु वे इसे इतनी दूर तक अभीष्ट नहीं चाहते कि वह एक वाद का रूप धारण कर ले।

छायावाद—इस प्रकार योरोप में प्रचलित साम्प्रदायिक रहस्यवाद अभिव्यंजना कलावाद तथा प्रतीकवाद के अनुकरण पर हिन्दी कविता में 'छायावाद' नाम से एक वाद प्रचलित हुआ। खड़ी बोली हिन्दी की कविता अपने स्वाभाविक विकास क्रम के अनुसार अपने नवीन रूप को प्रकट कर रही थी। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता नीरस गद्यता धीरे-धीरे दूर होती जा रही थी। मैथिलीशरण गुप्त मुकुटधर पाण्डेय आदि कई कवि खड़ी बोली कविता को अधिक कल्पनामय चित्रमय तथा भावाभिव्यंजक रूप देने में प्रवृत्त थे। इसी समय रवीन्द्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम मचने लगी। ये कविताएं पाश्चात्य ढंग का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर लिखी गई थीं। पुराने ईसाई सन्त अपनी धर्म साधना के द्वारा प्राप्त की हुई भावनाओं को आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देते हुए नाना रूपकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया करते थे। इस रूपात्मक आभास को योरोप में छाया (Phantasmata) कहा जाता था। इन ईसाई सन्तों की वाणी का तथा योरोपीय काव्य क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद का अनुकरण करके

जो आध्यात्मिक गीत बंगाल में ब्रह्म समाज के अनुयायियों द्वारा निर्मित होने लगे उन्हें छायावाद कहा जाने लगा। धीरे धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से बंगला के साहित्य क्षेत्र में आया और फिर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के अनुकरण पर हिन्दी साहित्य में भी इसका प्रचार व प्रसार होने लगा।

शुक्लजी का सबसे बड़ा आक्षेप छायावाद पर यही है कि इसके कारण काव्य के क्षेत्र में पाश्चात्य साम्प्रदायिक वादों के आधानुकरण पर 'कल्पना' को अत्यन्त महत्त्व प्रदान कर दिया गया है अर्थात् जिस प्रकार रमणीय वस्तुओं की कल्पना की जाती है उसी प्रकार नाना प्रकार की विचित्र भावानुभूतियों की भी कल्पना की जाने लगी। वे कहते हैं कि योजना भले ही कल्पना चमत्कार से विश्व लोकोत्तर तथा चमत्कारविधायिनी हो परन्तु भावानुभूति का स्वरूप सच्चा ही होना चाहिए। यदि भावानुभूति का स्वरूप भी कल्पित होगा तो अन्य हृदयों से उसका सम्बन्ध स्थापित न हो सकेगा। जैसे यदि कोई मृत्यु को केवल जीवन की पूर्णता कहकर उसकी प्रबल लालसा प्रकट करे अपना सर मिटाने के अधिकार पर गर्व की व्यंजना करे तो कथन के वैचित्र्य से हमारा मनोरंजन तो अवश्य होगा परन्तु आश्रय या कवि के साथ पाठक व श्रोता के हृदय का तादात्म्य नहीं हो सकेगा। रसानुभूति के लिए इस तादात्म्य की अनिवार्यतः आवश्यकता है।

शुक्लजी कहते हैं कि 'छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में दूसरा काव्य शैली के व्यापक अर्थ में। प्रथम अर्थ में 'छायावाद' का सम्बन्ध काव्य वस्तु से है। इसमें कवि अनन्त असीम अज्ञात अव्यक्त सत्ता को प्रियतम से कल्पित करके उसके प्रति चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार के प्रतीकों के माध्यम से अपनी लालसा मिलन की अभिलाषा प्रेमजन्य विरह की वेदना मिलन जन्य उल्लास हर्ष पुलकों की अभिव्यंजना करता है। शुक्लजी छायावाद का यही मूल अर्थ मानते हैं। इस रूप में उसका आशय वही है जो साम्प्रदायिक रहस्यवाद के सम्बन्ध में स्पष्ट किया जा चुका है। उन्हें अज्ञात और अव्यक्त के प्रति अभिव्यक्त की गई प्रेम-लालसा की अनुभूतियाँ अस्वाभाविक प्रतीत होती हैं।

को आधार बनाकर काव्य का तीसरा भेद शुक्लजी ने कथात्मक गद्य काव्य कहा है। कथात्मक गद्य काव्य का स्थान अब उपन्यासों और छोटी कहानियों ने ले लिया है। वे काव्य के इस रूप में भावोन्मेष की अधिकता उपादेय नहीं मानते हैं। इस रूप में अर्थबोध अपने प्रकृत रूप में अधिक विद्यमान रहता है। भाव-विधान या उक्तिवैचित्र्य की मात्रा अत्यल्प ही रहती है। कथा प्रवाह के अन्तर्गत घटनाएँ ही पाठक का मर्म स्पर्श करती हैं अतएव पात्रों द्वारा भावों की लम्बी-चौड़ी व्यंजना अपेक्षित नहीं रहती।

भारतीय कथात्मक गद्य काव्य अलंकृत और रसात्मक रहा है। इसके लिए वस्तुतः आधुनिक उपन्यास का बंगला के माध्यम से आया अंग्रेजी ढाँचा अधिक उत्कृष्ट है। शुक्लजी उपन्यासों में जीवन के विविध पक्षों को विन्यस्त देखना चाहते हैं। वस्तु स्थिति का यथार्थ स्वरूप पात्रों की चेष्टाओं के रूप में अंकित करना उनकी दृष्टि से उत्तम है। सामाजिक उपन्यासों में देश की सामान्य जीवन-पद्धति ही अंकित होनी चाहिए। योरोपीय सभ्यता के साँचे में ढले हुए छोटे से समुदाय के जीवन का चित्रण अधिक मात्रा में नहीं होना चाहिए। वे उनकी धारणा के अनुसार आधुनिक जीवन के एक पक्ष तो हैं, परन्तु सामान्य पक्ष नहीं। वे छोटी कहानी को उपन्यास के समान ही प्रतिपादित करते हैं और उसे अत्यन्त मार्मिक समझते हैं।

काव्यात्मक गद्यप्रबन्ध या गद्यकाव्य—काव्यात्मक गद्यप्रबन्ध या लेख शुक्लजी की दृष्टि के अनुसार छन्द के बन्धन से मुक्त काव्य ही है। इसमें अर्थ बोध कहीं तो प्रकृत और सीधे रूप में विद्यमान रहता है और कहीं भाव या चमत्कार द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। वे साहित्य में इस प्रकार के गद्यप्रबन्धों का विशिष्ट स्थान मानते हैं, परन्तु इनकी अधिकता को उपादेय नहीं मानते हैं। उनका विचार है कि इस प्रकार के गद्य प्रबन्धों की अधिकता से गद्य के विकास में तथा भाषा की शक्ति की वृद्धि में बहुत बाधा पड़ेगी।

निबन्ध—साहित्य के उक्त चारों रूपों में कल्पना प्रमुख वस्तु या अर्थ की प्रधानता रहती है परन्तु निबन्ध रूप में विचार प्रमुख अर्थ संपी होता

है। आप्तोपलब्ध या कल्पित तथ्य उसके अंग रूप होकर आते हैं। निबन्ध वस्तुतः अर्थ प्रधान होता है। व्यक्तिगत वैचित्र्य अर्थ के साथ मिला हुआ रहता है। हृदय की प्रवृत्तियाँ या भाव बीच-बीच में अर्थ के साथ आकर अपना आयाम करते रहते हैं। इस प्रकार शुक्लजी की धारणा के अनुसार निबन्ध के प्रकृत रूप में विचार प्रवाह व्यक्तिगत वैचित्र्य तथा हृदय के भावों के समन्वय की अपेक्षा है।

'शुक्लजी की आलोचना पद्धति'

समालोचना साहित्य—शुक्लजी के आचार्यत्व की समीक्षा करने के लिए उनकी समालोचना-पद्धति पर भी विचार करना आवश्यक है। सर्व प्रथम इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वे समीक्षात्मक रचनाओं को भी साहित्य के अन्तर्गत मानते हैं। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि वे समालोचनात्मक साहित्य की अपेक्षा रचनात्मक साहित्य को अधिक महत्त्व देते हैं। उनका कथन है कि लक्ष्य ग्रन्थों के अनन्तर ही लक्षण ग्रन्थों की रचना की जाती रही है। लक्ष्य ग्रन्थों की व्याख्या तथा परीक्षा के लिए ही लक्षण ग्रन्थों की आवश्यकता है अतः साहित्य में प्रमुखता रचनात्मक साहित्य को ही मिलनी चाहिए।

समालोचना का उद्देश्य—शुक्लजी समालोचना का उद्देश्य केवल गुण दोष विवेचन ही नहीं मानते हैं। उत्कृष्ट समालोचना वही होती है जिसमें गुण-दोष विवेचन को ही प्रमुखता न देकर कवि की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराने के लिए उसकी विचारधारा की छानबीन की जाए।

समालोचना के भेद—वे समालोचना के दो प्रधान मार्ग मानते हैं—निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक। निर्णयात्मक आलोचना में कवि की निन्दा या प्रशंसा उसकी रचना के गुण दोषों के आधार पर की जाती है। इसके विपरीत व्याख्यात्मक समालोचना में रचना में वर्णित विषयों को मुख्य अभिन्न रूप दे दिया जाता है और उसका स्पष्टीकरण किया जाता है। यह उसका मूल्य निर्धारित नहीं करती अपितु काव्य-वस्तु के अंग प्रत्यंग की विशेषताओं की खोज करती है अथवा रचना के अन्तर्गत भावों की विशद व्याख्या में तत्पर रहती है। व्याख्यात्मक समीक्षा के ही दो रूप और हो

जाते हैं—ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक। इन दोनों रूपों में काव्य वस्तु के साथ सम्बन्ध रखने वाली अन्य बहुत-सी बातों का विचार किया जाता है। ऐतिहासिक समालोचना यह निर्धारित करती है कि समीक्ष्य रचना का उसी प्रकार की अन्य रचनाओं के साथ क्या सम्बन्ध है और उसका साहित्य-परम्परा में क्या स्थान है। मनोवैज्ञानिक समालोचना में कवि के जीवन क्रम और स्वभाव आदि के अध्ययन द्वारा उसकी अन्तःप्रवृत्तियों का सूक्ष्म अनुसन्धान भी किया जाता है।

रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद कलावाद रहस्यवाद और छायावाद के प्रचलन का प्रभाव समीक्षात्मक साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक था। फलतः प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा का प्रचलन हुआ। शुक्लजी इस प्रकार की समीक्षा का कोई मूल्य स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि उस आलोचना कहना ही व्यर्थ है क्योंकि किसी कवि की आलोचना कोई इसी लिए पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को उसके भाव को ठीक-ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले न इसलिए नहीं कि आलोचक की भावभंगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की समीक्षा में प्रायः भाषा विचार में बाधक बनकर आ खड़ी होती है। शुक्लजी की धारणा के अनुसार विशुद्ध समालोचक के लिए विद्वत्ता और प्रशस्त रुचि दोनों अपेक्षित हैं। निर्णयात्मक समीक्षा के लिए विद्वत्ता की आवश्यकता है और प्रभावात्मक समीक्षा के लिए प्रशस्त रुचि की अपेक्षा है। निर्णयात्मक आलोचना का ध्यान उन साधनों की ओर रहता है जिनके द्वारा कवि या लेखक अपनी अनुभूतियों को पाठक हृदय तक प्रेषित करने का कार्य सम्पन्न करता है। वह साधन की उपयुक्तता को अपना लक्ष्य बनाती है। उसके आधार पर ही साध्य की सिद्धि की परीक्षा की जा सकती है। प्रभाववादी समीक्षक साध्य को सिद्ध मानकर ही चलता है अतः वह साधनों की उपेक्षा कर साध्य-सिद्धि को ही अपनी समीक्षा का आधार बना लेता है। शुक्लजी इन दोनों समीक्षाओं का समन्वय देखना चाहते हैं। वे कहते हैं कि इन दोनों समीक्षाओं का समन्वय बुद्धि और हृदय

के साथ-साथ चलने से ही हो सकता है। निर्णयात्मक समीक्षा की एक अन्य उपयोगिता वे यह भी कहते हैं कि इससे साधनहीन कवियों की रोक-टोक हो सकेगी अन्यथा साहित्य क्षेत्र में अव्यवस्था अराजकता के साथ-साथ निरर्थक एवं अनुपयोगी रचनाएँ भी प्रविष्ट होने लगेंगी। केवल प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा को शुक्लजी न ज्ञान के क्षेत्र में न भाव के क्षेत्र में मूल्य प्रदान करना नहीं चाहते। वे समीक्षा का विचारात्मक स्वरूप ही उपादेय समझते हैं। योरोपीय साहित्य समीक्षा के नाम से प्रचलित अर्थ शून्य शब्दाडम्बर को वे महत्त्व नहीं देना चाहते। शुक्लजी अपनी धारणा को स्पष्ट करने के लिए 'समीक्षा' शब्द पर ध्यान देते हैं। वे कहते हैं कि समीक्षा का अर्थ अच्छी तरह देखना और विचार करना है, अतः वह जब होगी तब विचारात्मक होगी। कल्पनात्मक या भावात्मक कृति की परीक्षा के लिए दूसरी वैसी ही कल्पना प्रधान तथा भावप्रधान रचना करने से समीक्षा का शुद्ध स्वरूप निश्चित नहीं हो सकता। अतः समीक्षा भाषा के सांकेतिक या तथ्यबोधक प्रयोग से ही हो सकती है। भाव प्रवर्तक प्रयोग से नहीं। कलावादी स्पिन्गर्न प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा और विचारात्मक समीक्षा में पुरुष और स्त्री का भेद वर्णित करते हैं। निर्णयात्मक समीक्षा पुरुष है अर्थात् सक्रिय है और दूसरी प्रभावात्मक समीक्षा स्त्री है अर्थात् निष्क्रिय है। पहली एक प्रतिष्ठित आदर्श को लेकर काव्य की परीक्षा में प्रवृत्त होती है और दूसरी समीक्षा काव्य के प्रभाव को चुपचाप ग्रहण करती हुई उसी में मग्न हो जाती है। शुक्लजी पुरुष समीक्षा के पक्षपाती हैं।

समीक्षा के साधन—शुक्लजी भारतीय काव्य समीक्षा के शास्त्र वर्णित साधनों को अत्यन्त व्यापक एवं प्रौढ़ स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि भारतीय काव्य समीक्षा के अंग ध्वनि रस अलंकार आदि के आधार पर एक ऐसी समीक्षा प्रणाली प्रतिष्ठापित की जा सकती है जिसके द्वारा हम सारे संसार के सम्पूर्ण साहित्य की आलोचना भली भाँति कर सकते हैं।

शुक्लजी की समीक्षा पद्धति समीक्षादर्श—शुक्लजी व्याख्यात्मक समीक्षा के समर्थक हैं। रस और अलंकार आदि प्राचीन तत्वों के आधार

पर गुण-दोष विवेचन की शैली को वे रचनात्मक समीक्षा मानते हैं। वे उसमें सुधार करना चाहते हैं। व कवि की विशेषताओं का अन्वेषण और उसकी अन्तः प्रकृति की छानबीन करने वाली समीक्षा को उच्चकोटि की समीक्षा स्वीकार करते हैं। व समन्वयवादी समीक्षक हैं। उन्होंने सैद्धान्तिक समीक्षा और प्रयोगात्मक समीक्षा को मिला दिया है। उनका जो कुछ सैद्धान्तिक निरूपण किया वही उनकी आलोचना का मान दण्ड हो गया और वे उन सिद्धान्तों तक प्रयोगात्मक समीक्षा द्वारा पहुँचे हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का समन्वय किया है। अपने सिद्धान्तों के समर्थन में दोनों पक्षों से सामग्री ग्रहण की है। पाश्चात्य सिद्धान्तों में से जो सिद्धान्त भारतीय परम्परा के अनुकूल हैं उनको ही स्वीकार किया है।

शुक्लजी रसवादी आचार्य हैं। उनकी हृदय की मुक्तावस्था रस दशा है रसानुभूति के समकक्ष है। वे केवल उक्ति वैचित्र्य को ही काव्य नहीं मानते। काव्यत्व के लिए भाव की व्यञ्जना अनिवार्यतः स्वीकार करते हैं। इस पर भी वे भारतीय आचार्यों की भाँति रस को किसी इतर लोक की अनुभूति नहीं मानते। व रस की कोटियाँ स्वीकार करते हैं। उन्होंने प्राचीन साधारणीकरण के सिद्धान्त की नवीन व्याख्या की है। इनके रस सिद्धान्त में शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना तथा लोक सामान्य भावभूमि की कल्पना नवीन है।

बाबू गुलाबराय भी शुक्ल जी की भाँति मूल्यवादी या नीतिवादी समीक्षक हैं। उन्होंने रसानुभूति को जीवन की वास्तविक अनुभूति से पृथक कोई वस्तु नहीं माना है। व साहित्य और जीवन का सम्बन्ध मान कर चले हैं। काव्य उनकी दृष्टि में व्यक्त जगत् की अभिव्यक्ति है इसलिए 'रस' के अनुभूति पक्ष के साथ ही सहृदय समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का भी उन्होंने सूक्ष्म विवेचन किया है। व काव्य को मनुष्यता की उच्च भूमि तक पहुँचाने का साधन स्वीकार करते हैं। लोक कल्याण की भावना सदा उनके सम्मुख रहती है अतएव व स्वान्तः सुखाय रचना के पृष्ठपोषक नहीं

के साथ-साथ चलने से ही हो सकता है। निर्णयात्मक समीक्षा की एक अन्य उपयोगिता वे यह भी कहते हैं कि इससे लायकहीन कवियों की रोक-टोक हो सकती अन्यथा साहित्य क्षेत्र में अव्यवस्था अराजकता के साथ-साथ निरर्थक एवं अनुपयोगी रचनाएँ भी प्रविष्ट होने लगती। केवल प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा को शुक्लजी न ज्ञान के क्षेत्र में न भाव के क्षेत्र में मुख्य प्रधान करना नहीं चाहते। वे समीक्षा का विचारात्मक स्वरूप ही उपादेय समझते हैं। योरोपीय साहित्य समीक्षा के नाम से प्रचलित अर्थ शून्य शब्दाडम्बर को वे महत्त्व नहीं देना चाहते। शुक्लजी अपनी धारणा को स्पष्ट करने के लिए 'समीक्षा' शब्द पर ध्यान देते हैं। वे कहते हैं कि समीक्षा का अर्थ अच्छी तरह देखना और विचार करना है, अतः यह जब होगी तब विचारात्मक होगी। कल्पनात्मक या भावात्मक कृति की परीक्षा के लिए दूसरी वैसी ही कल्पना प्रधान तथा भावप्रधान रचना करने से समीक्षा का मूल स्वरूप निर्मित नहीं हो सकता। वह समीक्षा भाषा के सांकेतिक या तथ्यबोधक प्रयोग से ही हो सकती है। भाव प्रवर्तक प्रयोग से नहीं। कलावादी स्पिंगर्न प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा और विचारात्मक समीक्षा में पुरुष और स्त्री का भेद कल्पित करते हैं। निर्णयात्मक समीक्षा पुरुष है अर्थात् सक्रिय है और दूसरी प्रभावात्मक समीक्षा स्त्री है अर्थात् निष्क्रिय है। पहली एक प्रतिष्ठित आदर्श को लेकर काव्य की परीक्षा में प्रवृत्त होती है और दूसरी समीक्षा काव्य के प्रभाव को चुपचाप ग्रहण करती हुई उसी में मग्न हो जाती है। शुक्लजी पुरुष समीक्षा के पक्षपाती हैं।

समीक्षा के साधन—शुक्लजी भारतीय काव्य समीक्षा के प्रसिद्ध प्रचलित साधनों को अत्यन्त व्यापक एवं ठोस स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि भारतीय काव्य समीक्षा के शब्द शक्ति रस अलंकार आदि के आधार पर एक ऐसी समीक्षा प्रणाली प्रतिष्ठापित की जा सकती है जिसके द्वारा हम सारे संसार के सम्पूर्ण साहित्य की आलोचना भली भाँति कर सकते हैं।

शुक्लजी की समीक्षा पद्धति समीक्षादर्श—शुक्लजी व्याख्यात्मक समीक्षा के समर्थक हैं। रस और अलंकार आदि प्राचीन तत्त्वों के आधार

पर गुण-दोष विवेचन की शैली को वे एकांगी समीक्षा मानते हैं। वे उसमें सुधार करना चाहते हैं। वे कवि की विशेषताओं का अन्वेषण और उसकी अन्तः प्रकृति की छानबीन करने वाली समीक्षा को उच्चकोटि की समीक्षा स्वीकार करते हैं। वे समन्वयवादी समीक्षक हैं। उन्होंने सैद्धान्तिक समीक्षा और प्रभावात्मक समीक्षा को मिला दिया है। उन्होंने जो कुछ सैद्धान्तिक निरूपण किया वही उनकी आलोचना का मान दण्ड हो गया और वे उन सिद्धान्तों तक प्रभावात्मक समीक्षा द्वारा पहुँचे हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का समन्वय किया है। अपने सिद्धान्तों के समर्थन में दोनों पक्षों से सामग्री ग्रहण की है। पाश्चात्य सिद्धान्तों में से जो सिद्धान्त भारतीय परम्परा के अनुकूल हैं उनको ही स्वीकार किया है।

शुक्लजी रसवादी आचार्य हैं। उनकी हृदय की मुक्तावस्था रस दशा है रसानुभूति के समकक्ष है। वे केवल उक्ति वैचित्र्य को ही काव्य नहीं मानते। काव्यत्व के लिए भाव की प्रेरकता अनिवार्यतः स्वीकार करते हैं। इस पर भी वे भारतीय आचार्यों की भाँति रस को किसी इतर लोक की अनुभूति नहीं मानते। वे रस की कोटियाँ मानकर चले हैं। उन्होंने प्राचीन साधारणीकरण के सिद्धान्त की नवीन व्याख्या की है। इनके रस सिद्धान्त में शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना तथा लोक सामान्य भावभूमि की कल्पना नवीन है।

आई० ए० रिचर्ड्स की भाँति वे मूल्यवादी या नीतिवादी समीक्षक हैं। उन्होंने रसानुभूति को जीवन की वास्तविक अनुभूति से पृथक कोई अनुभूति नहीं माना है। वे साहित्य और जीवन का सम्बन्ध मान कर चले हैं। काव्य उनकी दृष्टि में व्यक्त जगत् की अभिव्यक्ति है इसलिए 'रस' के अनुभूति पक्ष के साथ ही सहृदय समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का भी उन्होंने सूक्ष्म विवेचन किया है। वे काव्य को मनुष्यता की उच्च भूमि तक पहुँचाने का साधन स्वीकार करते हैं। लोक कल्याण की भावना सदा उनके सम्मुख रहती है अतएव वे स्वान्तः सुखाय रचना के पृष्ठपोषक नहीं

है। स्वाम्य सुझाव को पाप सुझाव बना देने में ही वे रचनाकार की कृतार्थता स्वीकार करते हैं। उन्होंने 'सत्य परमिमृतमे' तथा 'शिवे तरसतमे' इन दोनों प्रयोजनों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इनका नीतिवाद इसी सामंजस्य पर प्रतिष्ठित है।

सौन्दर्यानुभूति को वे प्रायः रसानुभूति के ही समकक्ष स्वीकार करते हैं। दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि में मानस सत्ता की तदाकार परिणति ही सौन्दर्यानुभूति है। रूप सौन्दर्य ही सौन्दर्य नहीं कर्म सौन्दर्य भी सौन्दर्य का प्रतीक है। वे इन दोनों में सामंजस्य देखना चाहते हैं। वे व्यक्ति को निरंकुश स्वतन्त्रता देने के पक्षपाती नहीं हैं व्यक्ति और समाज के सामंजस्य को वे प्रमुखता देते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य व्यक्ति के शील-विकास का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा बुद्धि हृदय और कर्मशक्ति तीनों का विकास होता है। इस प्रकार वे नीतिवादी होकर भी कवि को उपदेशक बन जाने का अधिकार नहीं देते। उनकी दृष्टि में काव्य में नीति-अनीति का विवाद ही निरर्थक है क्योंकि वे शिव और सुन्दर में कोई भेद नहीं मानते हैं। काव्य में जो 'सुन्दर' है वही 'शिव' है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से लोकमंगल की साधनावस्था को वे ग्रहण करते हैं अर्थात् केवल कोमल भावों के वर्णन करने की अपेक्षा कोमल और कठोर, शान्त और उग्र दोनों प्रकार के भावों का उल्लेख काव्य में आवश्यक मानते हैं। प्रकृति को भी वर्ण्य विषयों के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। वे प्रकृति को आलम्बन रूप में भी काव्य में स्थान देना चाहते हैं।

काव्य तत्त्वों में भाव और ज्ञान का सामंजस्य उनको अभीष्ट है। कल्पना को प्रस्तुत विभाव अनुभाव आदि की योजना में तथा अप्रस्तुत विधान में साधन मानते हैं, उसे साध्य नहीं मानते। भावप्रेरित कल्पना ही उनकी दृष्टि में काव्य के लिए उपादेय है। वे अलंकार और अलंकार्य का भेद स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में अलंकार विशेष प्रकार की वर्णन शैली है।

काव्य और कला को एक ही रूप में वे महत्त्व नहीं देते हैं। वे कला

और काव्य के उद्देश्यों में पर्याप्त अन्तर मानते हैं।

मुक्तक की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य को अधिक महत्त्व देते हैं। प्रबन्ध को रसधारा और मुक्तक को रस के छींटे मानते हैं। उन्होंने काव्य के मुख्य दो रूप स्वीकार किये हैं—लोकमंगल की साधनावस्था अर्थात् प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले तथा लोकमंगल की सिद्धावस्था अर्थात् उप भोग पक्ष को लेकर चलने वाले।

समीक्षा साहित्य—शुक्लजी ने प्रायः हिन्दी साहित्य के सभी काव्यों के कवियों की समीक्षा की है। समीक्षा-साहित्य में हम केवल उन रचनाओं को ले सकते हैं जो स्वतन्त्र रूप से और पूर्ण विस्तार के साथ लिखी गई हैं। इस दृष्टि से शुक्लजी के समीक्षा-साहित्य में तीन कृतियाँ ही परिगणित की जा सकती हैं—गोस्वामी तुलसीदास, जायसी ग्रन्थावली, सूरदास। इन तीनों में से भी जायसी ग्रन्थावली की भूमिका को ही विशेष महत्त्व दिया जा सकता है। क्योंकि इसी में उन्होंने 'जायसी' की उचित विस्तार के साथ सभी अंगों तथा उपांगों की क्रमबद्ध समीक्षा प्रस्तुत की है।

गोस्वामी तुलसीदास—इस संकलनात्मक ग्रन्थ में अट्ठारह निबन्ध संकलित किये गए हैं। यह गोस्वामीजी के महत्त्व के साक्षात्कार और उनकी विशेषताओं के प्रदर्शन का लघु प्रयत्न मात्र है। इसमें शुक्लजी के सभी समीक्षा के आदर्श हम मिल सकते हैं। 'तुलसी की भक्ति पद्धति' 'प्रकृति और स्वभाव' 'लोकधर्म' 'मंगलाशा' प्रकरणों में तुलसीदास की अन्य प्रवृत्तियों की विस्तारपूर्वक छानबीन की गई है। तुलसीदासजी भक्त कवि हैं। उनकी अन्य प्रवृत्ति की व्याख्या भक्ति के स्वरूप व पद्धति के विश्लेषण से ही की जा सकती है इसीलिए शुक्लजी ने उक्त निबन्धों में तुलसी की भक्ति भावना का अन्य प्रचलित भक्ति सम्प्रदायों से अन्तर स्पष्ट करने का उपक्रम किया है। निर्गुण भक्ति भावात्मक और साधनात्मक रहस्य वादी प्रवृत्ति माधुर्योपासना की प्रवृत्ति से तुलसी की रामभक्ति का अन्तर स्पष्ट करना एक प्रकार से उनकी अन्य प्रवृत्ति की छानबीन ही है। ये प्रसंग शुक्लजी की व्याख्यात्मक समीक्षापद्धति के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

शुक्लजी नीतिवादी समीक्षक हैं अर्थात् वे काव्य के प्रभाव पक्ष को अपनी आलोचना पद्धति का विशेष अंग मानते हैं। इस दृष्टि से इस संकलन ग्रन्थ के 'धर्म और जातीयता का समन्वय' 'लोकनीति और मर्यादावाद' 'शील साधना और भक्ति' आदि प्रकरण विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें तुलसी के काव्य के प्रभाव पक्ष का गम्भीर विश्लेषण किया गया है। ये उनकी मूल्यवादी प्रवृत्ति के परिचायक कहे जा सकते हैं।

शुक्लजी की समन्वयवादी प्रवृत्ति 'शीलसाधना और भक्ति' तथा 'ज्ञान और भक्ति' इन दो प्रकरणों में स्पष्ट झलकती है। इनमें कर्म सौन्दर्य और रूप सौन्दर्य के भक्ति और शील के ज्ञान और कर्म के समन्वय का प्रत्यक्ष किया गया है। संकलन के अन्य प्रकरणों में तात्त्विक एवं सैद्धान्तिक समीक्षा का स्वरूप परिलक्षित होता है। 'तुलसी की काव्य पद्धति' 'तुलसी की भावुकता' 'शीलनिरूपण और चरित्र-चित्रण' 'बाह्य दृश्य चित्रण' 'अलंकार विधान' 'उक्ति वैचित्र्य' 'भाषा पर अधिकार' ये सब प्रकरण शुक्लजी के सिद्धान्तों का पूर्ण प्रकाशन करते हैं। शुक्लजी रसवादी समीक्षक हैं। इन निबन्धों में रस के तत्त्वों के आधार पर तुलसी के काव्य की समीक्षा की गई है। वे बिम्ब ग्रहण की महत्ता प्रतिपादित करते हैं और इसके लिए संश्लिष्ट चित्रण की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। तुलसी के काव्य की समीक्षा में यह सिद्धान्त भी प्रयुक्त किया गया है। तुलसी के अलंकार विधान की समीक्षा तुलसी के काव्य में व्याप्त कतिपय मार्मिक सूक्तियों की अन्वेषणा तथा भाषा-शैली सम्बन्धी विशेषताओं का विशद विवेचन उनके समीक्षादर्शों का प्रत्यक्ष प्रमाण व उदाहरण कहा जा सकता है। अन्त में 'हिन्दी साहित्य में गोस्वामीजी का स्थान' शीर्षक प्रकरण में उन्होंने 'निर्णयात्मक समीक्षा' का स्वरूप झलका दिया है। प्रभावाभिव्यंजकों की अर्थ शून्य कल्पना प्रधान भावात्मक तथा निरर्थक वाग्जाल इस सारे संकलन में हमें कहीं भी नहीं मिलता। प्रायः समीक्षा का विचारात्मक स्वरूप ही हमारे सम्मुख आता है। अतः यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने इस संकलन ग्रन्थ में अपनी समीक्षा-पद्धति के पूर्ण स्वरूप का आभास है

दिया है।

सूरदास—'सूरदास' नामक समीक्षा ग्रन्थ भी शुक्ल जी के लेखों का संकलन मात्र है। 'भक्ति का विकास' 'श्री वल्लभाचार्य' ये दो प्रकरण सूरदास के भक्त-हृदय के विश्लेषण में सहायक कहे जा सकते हैं फलतः व्याख्यात्मक समीक्षा के परिचायक हैं। 'जीवन वृत्त' शीर्षक प्रकरण ऐतिहासिक समीक्षा का ही अंग है। इसमें भक्तिधारा में 'सूरदास' का स्थान स्पष्ट करने का प्रयास है। इसके मूल में भक्ति परम्परा के अन्य कवि तुलसीदास के साथ साम्य तथा वैषम्य को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति विद्यमान है। 'काव्य में लोक मंगल' यह प्रकरण 'सूरदास' की समीक्षा के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं रखता इसमें तो केवल शुक्लजी के साहित्यिक सिद्धान्त का प्रतिपादन है। 'सूरदास' की वास्तविक समीक्षा 'आलोचना' शीर्षक प्रकरण में ही है। यह सारी समीक्षा सैद्धान्तिक समीक्षा ही है क्योंकि इसका आधार रस, रस के तत्त्व आलम्बन उद्दीपन विभाव अनुभाव संचारीभाव शास्त्रीय समीक्षा के साधन ही हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी के साथ तुलना करके तुलनात्मक समीक्षा का तथा सूरदास का स्थान निर्धारित करके निर्णयात्मक समीक्षा का स्वरूप भी उपस्थित कर दिया गया है।

जायसी ग्रन्थावली—'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका के रूप में जायसी की विस्तृत आलोचना का सर्वांगपूर्ण चित्र शुक्लजी ने इस ग्रन्थ के द्वारा प्रस्तुत कर दिया है। 'मलिक मुहम्मद जायसी' 'प्रेमगाथा की परम्परा' 'जायसी का जीवन वृत्त' 'जायसी का सम्प्रदाय' 'मत और सिद्धान्त' शीर्षक प्रकरण ऐतिहासिक समीक्षा के अंग हैं। इनमें जायसी की प्रेम-गाथा परम्परा में स्थिति का विश्लेषण किया गया है। 'रहस्यवाद' आदि साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का विश्लेषण भी ऐतिहासिक समीक्षा का ही रूप प्रस्तुत करता है। 'पद्मावत की कथा' 'ऐतिहासिक आधार' 'पद्मावत की प्रेम पद्धति' शीर्षक प्रकरण जायसी की कृति की व्याख्यात्मक समीक्षा के रूप कहे जा सकते हैं। 'ईश्वरोन्मुख प्रेम' 'प्रेम तत्त्व' 'जायसी की जानकारी' ये प्रकरण रचना के आधार पर कवि की प्रवृत्तियों के अनुसंधान स्वरूप

है और व्याख्यात्मक समीक्षा के अंग हैं। उक्त प्रकरणों के अतिरिक्त 'वियोग पक्ष' 'संयोग शृंगार' 'सम्बन्ध निर्वाह' 'अलंकार' 'स्वभाव चित्रण' आदि प्रकरण सैद्धान्तिक समीक्षा के अंग हैं क्योंकि इनमें जायसी की रचना की तात्त्विक विवेचना की गई है। 'संक्षिप्त समीक्षा' का प्रकरण एक प्रकार से निर्णयात्मक समीक्षा के स्वरूप को ही झलकाता है।

ये समीक्षाएँ शुक्लजी के समीक्षादर्शों के प्रतिबिम्ब स्वरूप हैं। शुक्ल जी ने अपना सैद्धान्तिक निरूपण विशेषतया इन तीनों कवियों की रचनाओं की प्रयोगात्मक आलोचनाओं के आधार पर ही किया है।

शुक्लजी का रचनात्मक साहित्य

सृजनात्मक प्रतिभा—शुक्लजी के सारे साहित्य का अनुशीलन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने गद्य के माध्यम से अपनी सृजनात्मक प्रतिभा का प्रकाशन किया है। उनकी गद्यात्मक रचनाओं में उनके निबन्ध तथा इतिहास सम्बन्धी रचनाएँ आती हैं। उनकी सृजनात्मक प्रतिभा का आभास पद्यात्मक रचनाओं में भी मिलता है। परन्तु उनकी भाषा सम्पन्न सत्य है। ये रचनाएँ भी दो रूपों में मिलती हैं—अनूदित तथा मौलिक। हिन्दी साहित्य में उनका स्थान गद्यात्मक रचनाओं के आधार पर ही निर्धारित किया जा सकता है।

निबन्ध वर्गीकरण—शुक्लजी का गद्य साहित्य प्रधानतया निबन्ध रूप में ही मिलता है। उनकी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षाएँ भी निबन्ध रूप में ही मिलती हैं। निबन्धकार के रूप में उन्होंने हिन्दी साहित्य में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है। उनके निबन्ध मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—प्रारम्भिक तथा प्रौढ़। प्रारम्भिक निबन्धों में 'साहित्य' 'भाषा की शक्ति' 'उत्साह' 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' और 'हिन्दी' 'मित्रता' परिगणित किये जा सकते हैं। ये निबन्ध पत्र पत्रिकाओं में उनके साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक काल में प्रकाशित हुए। प्रौढ़ निबन्धों की भी दो श्रेणियाँ की जा सकती हैं—समीक्षात्मक तथा मनोविकार सम्बन्धी। समीक्षात्मक निबन्ध भी दो प्रकार के हैं—सैद्धान्तिक समीक्षात्मक तथा व्यावहारिक समीक्षात्मक। सैद्धान्तिक समीक्षात्मक निबन्धों में 'कविता क्या है' 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्य वाद' 'रसात्मक बोध के विविध रूप' 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' काव्य

में रहस्यवाद' 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक उच्चकोटि के निबन्ध परिगणित किये जा सकते हैं। व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्धों में 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' 'तुलसी का भक्ति मार्ग' 'मानस की धर्मभूमि' आदि प्रमुख हैं। मनोविकार सम्बन्धी निबन्धो मे 'भाव या मनोविकार' 'उत्साह' 'श्रद्धाभक्ति' 'करुणा' 'लज्जा और ग्लानि' 'लोभ और प्रीति' 'घृणा' 'ईर्ष्या' 'भय' और 'क्रोध' लिए जा सकते हैं। ये निबन्ध 'चिन्तामणि' भाग प्रथम तथा द्वितीय में संकलित हैं 'रस मीमांसा' नामक पुस्तक में भी इनके भाव विभाव और साहित्यिक विषयों पर लिखे गए निबन्ध ही हैं।

निबन्ध का स्वरूप—शुक्लजी निबन्ध को गद्य साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है क्योंकि भाषा की शक्ति का पूर्ण विकास निबन्ध रूप में सबसे अधिक सम्भव होता है। निबन्ध के स्वरूप में शुक्लजी सर्वप्रथम विचार प्रवाह की ओर ध्यान ले जाते हैं। विचार-प्रवाह चिन्तन दशा का परिचायक है अर्थात् चिन्तन काल में ही विचारों का प्रवाह गतिशील होता है। यह स्थिति भावावेश की स्थिति से भिन्न होती है। भावावेश की स्थिति मे शब्द विधान स्वत रूप अस्त स्फुरित होता है अतएव भाषा को अपने विकास के लिए कम अवसर मिलता है। इसके विपरीत चिन्तन दशा में शब्द विधान सहज रूप मे ही नहीं हो पाता उसके लिए विशेष श्रम अपेक्षित होता है, अतएव भाषाशक्ति के विकास को पूर्ण अवसर मिल जाता है। यही कारण है कि शुक्लजी निबन्ध को गद्य भाषा की कसौटी मानते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य समीक्षकों के अनुसार निबन्ध-स्वरूप में व्यक्तिगत विशेषताओं को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है। शुक्लजी भी इस विशेषता को निबन्ध के प्रकृत स्वरूप मे विशेष महत्व देते हैं परन्तु वे इसका यह अर्थ नहीं लेते कि इस विशेषता के प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला का ही अभाव कर दिया जाए। साहित्यकार के चिन्तन मे उसका हृदय मिला रहता है। निबन्ध में व्यक्तिगत विशेषता का यही रहस्य है। वे निबन्ध में भाव को इतना महत्व नहीं देना चाहते कि वह विचारधारा में गतिरोध उत्पन्न कर

है। वे तो उसी निबन्ध को उत्कृष्ट कोटि का मानते हैं जिसमें नए-नए विचारों की उद्भावना या अभिव्यक्ति हुई हो और वे विचार एक दूसरे में गुँथे हुए हों और उनके पढ़ने में पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार पद्धति पर दौड़ पड़े।

यद्यपि शुक्लजी निबन्धों के विचारात्मक, भावात्मक और वर्णनात्मक ये भेद मानते हैं और साथ भेद में व्यास, समास, धारा, तरंग, विक्षेप तथा प्रलाप नामक विभिन्न शैलियों का अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं तथापि उनकी धारणा के अनुसार समास शैली प्रधान विचारात्मक निबन्धों में ही निबन्ध का यथार्थ स्वरूप उपलब्ध हो सकता है।

शुक्लजी के निबन्धों की विशेषताएँ—शुक्लजी के प्रौढ़ निबन्धों के सम्यक् अनुशीलन के पश्चात् निम्नलिखित विशेषताएँ हमें मिलती हैं—

१ बुद्धि तत्त्व की प्रधानता २ निजी भावना का योग ३ वैज्ञानिकता ४ शास्त्रीयता तथा मौलिकता ५ मार्मिकता ६ निगमन एवं आगमनात्मक पद्धति ७ समास शैली ८ भाषा सम्बन्धी विशेषताएँ सूक्तिमयता।

बुद्धि तत्त्व—विचार प्रधान निबन्धों में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता रहती है। शुक्लजी के निबन्धों में भी सबसे प्रमुख विशेषता इसी तत्त्व की प्रधानता ही है। वे अपने निबन्धों को अन्तर्यात्रा मानते हैं। उनके अपने शब्दों में इस यात्रा के लिए बुद्धि ही निकलती रही है अर्थात् वे अपने निबन्धों में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता देने के संकल्प से ही प्रवृत्त हुए हैं। हृदय तो केवल यात्रा के श्रम के परिहार के उद्देश्य से बीच-बीच में झाँकता ही रहा है।

वैज्ञानिक प्रवृत्ति—उनके निबन्धों में हम वैज्ञानिक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं इसी के आधार पर हम बुद्धि तत्त्व की प्रधानता का निर्धारण कर सकते हैं। इसी प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप उनके निबन्धों में वस्तुगत दृष्टि, वर्गीकरण की प्रवृत्ति, सूत्रात्मक शैली, क्रमबद्धता तथा अन्विति आदि गुण उत्पन्न हो गए हैं।

वस्तुगत दृष्टि—वैज्ञानिक का सत्य वस्तु विषय का सत्य होता है अपना व्यक्तिगत नहीं। इसीलिए वह वस्तु के शुद्ध स्वरूप का दर्शन सम्मुख

में रहस्यवाद' 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक उच्चकोटि के निबन्ध परिगणित किये जा सकते हैं। व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्धों मे 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' 'तुलसी का भक्ति मार्ग' 'मानस की धर्मभूमि' आदि प्रमुख हैं। मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में 'भाव या मनोविकार' 'उत्साह' 'श्रद्धाभक्ति' 'करुणा' 'लज्जा और ग्लानि' 'लोभ और प्रीति' 'घृणा' 'ईर्ष्या' 'भय' और 'क्रोध' लिए जा सकते हैं। ये निबन्ध 'चिन्तामणि' भाग प्रथम तथा द्वितीय में संकलित हैं 'रस मीमांसा' नामक पुस्तक में भी इनके भाव विभाव और साहित्यिक विषयों पर लिखे गए निबन्ध ही हैं।

निबन्ध का स्वरूप—शुक्लजी निबन्ध को गद्य साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि गद्य कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है क्योंकि भाषा की शक्ति का पूर्ण विकास निबन्ध रूप में सबसे अधिक सम्भव होता है। निबन्ध के स्वरूप में शुक्लजी सर्वप्रथम विचार-प्रवाह की ओर ध्यान ले जाते हैं। विचार प्रवाह चिन्तन दशा का परिचायक है *अर्थात् चिन्तन काल में ही विचारों का प्रवाह गतिशील होता* है। यह स्थिति भावावेश की स्थिति से भिन्न होती है। भावावेश की स्थिति में शब्द विधान स्वतः एवं अनायास स्फुरित होता है अतएव भाषा को अपने विकास के लिए कम अवसर मिलता है। इसके विपरीत चिन्तन दशा में शब्द विधान सहज रूप से ही नहीं हो पाता उसके लिए विशेष श्रम अपेक्षित होता है अतएव भाषाशक्ति के विकास को पूर्ण अवसर मिल जाता है। यही कारण है कि शुक्लजी निबन्ध को गद्य भाषा की कसौटी मानते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य समीक्षकों के अनुसार निबन्ध-स्वरूप में व्यक्तिगत विशेषताओं का सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। शुक्लजी भी इस विशेषता का निबन्ध के प्रकृत स्वरूप में विशेष महत्त्व देते हैं परन्तु वे इसका यह अर्थ नहीं लेते कि इस विशेषता के प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला का ही अभाव कर दिया जाए। साहित्यकार के चिन्तन में उसका हृदय मिला रहता है। निबन्ध में व्यक्तिगत विशेषता का यही रहस्य है। वे निबन्ध में भाव को इतना महत्त्व नहीं देना चाहते कि वह विचारधारा में अवरोध उत्पन्न कर

रखकर चलता है। यही बात हमें शुक्लजी के निबन्धों में प्रायः सर्वत्र मिलती है। सामान्यतः सभी निबन्धों में उनका ध्यान वर्ण्य वस्तु पर ही रहता है। किसी भावना के समावेश या आग्रह वस्तु से दूर भटकने की प्रेरणा नहीं दे पाता है। प्रत्येक भाव या मनोविकारों के लक्षणों में वस्तुगत दृष्टि का प्रमाण हमें मिल सकता है। श्रद्धा लज्जा लोभ आदि भावों के लक्षण में उत्साह करुणा ईर्ष्या तथा भय के विश्लेषण में इसी दृष्टि का पूर्ण प्रभाव है। ये लक्षण और विश्लेषण एकमात्र बुद्धि की क्रिया के ही परिणाम हैं।

वर्गीकरण की प्रवृत्ति—वैज्ञानिक की दृष्टि तो पदार्थों के परस्पर भेद पर जाती है। उन भेदों के उपभेदों पर भी वह पूर्ण तत्परता सूक्ष्मता तथा गम्भीरता से ध्यान देता चलता है। इस सूक्ष्मीक्षण के आधार पर वह समान गुण-रूप-क्रिया वाले पदार्थों को एक वर्ग में निहित कर देता है। एक वर्ग के भी कई उपवर्ग बनाने का यत्न वैज्ञानिक करता है। शुक्लजी अपने वर्ण्य विषय के स्पष्टीकरण तथा स्वरूप प्रतिपादन के लिए इसी वैज्ञानिक रीति का अनुसरण करते हैं। भेद दर्शन के आधार पर वर्गीकरण उनके निबन्धों की प्रमुख विशेषता है। उदाहरण स्वरूप एक प्रसंग यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।—'उत्साह' के प्रसंग में शुक्लजी उत्साह के मूल में विद्यमान 'आनन्द' का वर्गीकरण करते हैं और लिखते हैं—

'कर्म के अनुष्ठान में जो आनन्द होता है उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है—१ कर्म भावना से उत्पन्न २ फल भावना से उत्पन्न ३ आगन्तुक अर्थात् विषयान्तर से प्राप्त।

यही वर्गीकरण की प्रवृत्ति श्रद्धा लज्जा लोभ आदि भावों के विश्लेषण में हमें मिलती है। इसी के साथ-साथ उनके समीक्षात्मक निबन्धों से भी अनेक उदाहरण वर्गीकरण की प्रवृत्ति के उपलक्ष्य में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यह प्रवृत्ति उनके प्रत्येक निबन्ध में किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान है।

क्रम बद्धता तथा अन्विति—वैज्ञानिक दृष्टि का तीसरा लक्षण क्रम बद्धता तथा अन्विति है। निबन्ध में समाहित विचारधारा में क्रम बद्धता तथा अन्विति बुद्धि के व्यापार से आ सकती है, अतः ये दोनों गुण भी बुद्धि तत्त्व

के परिचायक हैं। शुक्लजी के निबन्धों में प्रायः विषय-वर्णन का एक सुनिश्चित क्रम दृष्टिगोचर होता है। वे पहले वर्ण्य पक्ष की स्थापना करते हैं फिर समान विषयान्तर में गुम्फित प्रतिपाद्य विषय का विश्लेषण व वर्गीकरण प्रत्येक वर्ग की व्याख्या करके निबन्ध की समाप्ति करते हैं। इसी के परिणामस्वरूप विचारों की संगति तथा परस्पर सम्बद्धता स्थापित हो जाती है। इस प्रकार विविधता में भी एकता के विधान में भी अभिन्नता के दर्शन हो जाते हैं। यही कारण है कि उनके प्रत्येक निबन्ध में असम्बद्ध एवं अथवा अप्रासंगिक विचारों का समावेश नहीं होने पाता है। जब ही विषय के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध रखने वाली बात निबन्ध में विन्यस्त होकर एक विशिष्ट प्रबन्ध का रूप धारण कर लेती है फलतः अनावश्यक वस्तु आने नहीं पाती और आवश्यक छूटने नहीं पाती। इसी संगति के कारण निबन्ध का प्रकृत स्वरूप उद्भासित होता है। निबन्ध में अपेक्षित विचार-गुम्फन तथा कसावट भी इसी से उत्पन्न हो जाती है। इसी गुण के कारण शुक्लजी के निबन्धों में विचारों की परम्परा कहीं टूटने नहीं पाती। विचारधारा क्रम तथा संगति के तटों के अन्दर प्रवाहित होती हुई पाठक की चेतना को सिंचित कर उसको सरसी बनाती है। इसी से उसकी हृदयग्राह्यता सम्पन्न हो जाती है।

निजी भावना का योग हृदयवृत्ति—निबन्धों में यदि लेखक की निजी भावनाओं का योग न हो तो वह शुष्क दार्शनिक रचना का रूप धारण कर लेती है। भावना योग से विचार प्रधान रचना भी साहित्यिक क्षेत्र के अन्तर्गत मानी जा सकती है। शुक्लजी ने अपने निबन्धों की रचना करते समय इस तथ्य पर पूरा ध्यान रखा है। प्रसंग वश विषय के विवेचन के मध्य में जहाँ कहीं ऐसे प्रसंग आ गए हैं जहाँ वे अपनी रुचि व प्रवृत्ति को प्रकट कर सके हैं वहाँ उन्होंने इस अवसर को अपने हाथ से जाने नहीं दिया है। ऐसे स्थलों से उनकी साहित्यिक व वैयक्तिक रुचियाँ अभिव्यक्त होकर उनके विचार प्रधान निबन्धों को सरसता प्रदान कर देती हैं। ऐसी ही अभिव्यक्तियों के कारण उनके निबन्धों में विषयी का व्यक्तित्व का पता

सन्निविष्ट कर देते हैं। ऐसे ही स्थलों में हमें गुप्तजी के व्यक्तित्व की झाँकियाँ उपलब्ध हो सकती हैं। उनका आत्म सम्मान उनकी गम्भीरता विनोद प्रियता सकोचशीलता सात्त्विकता सामाजिकता लोक कल्याण भावना कृत्रिमता के प्रति विरक्ति प्रकृति के प्रति अनुरक्ति उनके निबन्धों के बीच बीच में उभरती दृष्टिगोचर होती है। उनके सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षात्मक निबन्धों में बुद्धि-व्यापार के साथ हृदय की वृत्ति प्रवृत्ति का तादात्म्य रूप निर्विवाद रूप से स्पष्टतया प्रतीत होता है। सिद्धान्ततः वे सगुण भक्ति का समर्थन करते हैं, व्यक्त जगत् को महत्त्व देते हैं उन्हें स्वाभाविक रहस्यभावना साम्प्रदायिक रहस्यवाद से अपेक्षाकृत अधिक प्रिय है वे काव्य का जीवन से अटूट सम्बन्ध मानते हैं वे भावनावादी एवं रसवादी हैं और काव्य में श्रोता व पाठक को भी महत्त्व प्रदान करते हैं लोक दृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की ओर कला कला की काव्य क्षेत्र में अनुपयोगिता के प्रदर्शन की चेष्टा उनकी सहज प्रवृत्ति है। उनके निजी व्यक्तित्व और साहित्यिक व्यक्तित्व की ये सभी विशेषताएँ उनके निबन्धों के कलेवर में भाव स्वरूप हो संचारित हो रही हैं। व्यक्तित्व प्रधान वाले ऐसे अनेक स्थल उनके निबन्धों में से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस प्रकार हृदय वृत्ति के योग से उनके विचार प्रधान नीरस भाव-विधान में काव्यत्व की सृष्टि होने लगती है। भाषा में प्रतीकात्मकता भावात्मकता सरसता और सरलता ऐसे स्थलों में ही दृष्टिगोचर होती है। तुलनात्मक दृष्टि से यदि गुप्तजी के निबन्धों का विश्लेषण किया जाए तो उनकी हृदय वृत्ति का प्रसार विशेषतया या निबन्धों-श्रद्धा-भक्ति तथा लोभ व प्रीति में परिलक्षित होता है।

नीतिवादिता—गुप्तजी की हृदय वृत्ति नीतिवादिता के रूप में भी स्थान-स्थान पर अपना प्रसार प्राप्त करती रही है। नीतिवादी साहित्यकार या समीक्षक काव्य के सौन्दर्य के पक्ष के साथ उसके प्रभाव पक्ष पर समान रूप से दृष्टि रखता है। वह मनोरंजन के साथ उसकी व्यावहारिक उपयोगिता को भी प्रमुखता देता है। दूसरे शब्दों में वह मूल्यवादी होता है। वह शुद्ध सौन्दर्य के साथ उसके मूल्य एवं महत्त्व का समन्वय भी जोड़ देता है। इसी

प्रयास में वह उपदेशक व जीवन पथ-प्रदर्शक बन कर विशिष्ट मार्ग का संकेत भी करने लगता है। इसके मूल में उसकी अपनी रुचि व प्रवृत्ति सक्रियता से विद्यमान रहती है। जिसे वह उपयोगी समझता है जिसे वह महत्त्व प्रदान करता है, जिसे वह बहुमूल्य करना चाहता है उसका समर्थन उसका साहित्य या समीक्षा करती प्रतीत होती है। अतएव वह मूलतः व्यक्तित्व का ही अंग सिद्ध होता है। ऐसे स्थल उसे वैज्ञानिक दृष्टि से दूर होता प्रदर्शित कर देते हैं। गुप्तजी के निबन्धों में भी जहाँ-तहाँ इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। वे भी अपने मन्तव्यों, धारणाओं, रुचियों तथा प्रवृत्तियों का समर्थन करते अपनी धारणा के अनुकूल उचित मार्ग का संकेत करते प्रतीत होते हैं। फलतः वे अपने निबन्धों में व्यक्तित्व का समावेश कर देते हैं और विषय प्रधानता और व्यक्तित्व प्रधानता का परस्पर मिलन होने लगता है। जब वे भाव क्षेत्र को पवित्र क्षेत्र कहते हैं जब वे किसी भाव को अच्छा या बुरा कहते हैं जब कर्म वासना प्रसूत आनन्द को ही सच्चे वीरों का आनन्द प्रतिपादित करते हैं जब वे पाप के फल को छिपाने वाले को अपराधी घोषित करते हैं जब वे वृत्तियों के परिष्कार में आस्था प्रकट करते हैं जब वे शील गुण की प्रशंसा करते हैं और संकोच को शील का प्रधान अंग मानते हैं, उसे सदाचार का एक अङ्ग वा शिष्टाचार का प्रधान आधार वर्णित करते हैं तब उनके व्यक्तित्व की विशेषताएँ नीतिवादिता सामाजिकता लोककल्याण भावना ही उभर उभरती परिलक्षित होती है। जब वे कर्तव्य-पथ का निर्देश करके बीच-बीच में पाठकों को सावधान करते चलते हैं तब उनकी नीतिवादिता साकार हो हमारे सम्मुख आ विराजती है। इस प्रकार उनका व्यक्तित्व निबन्धों में झाँकने लगता है।

शास्त्रीयता तथा मौलिकता—गुप्तजी के निबन्धों में शास्त्रीयता और मौलिकता का अपूर्व सामंजस्य है। उनके निबन्धों में प्रवाहित विचारधारा का मूलस्रोत भारतीय काव्यशास्त्रों तथा नवीन पाश्चात्य साहित्य समीक्षकों द्वारा वर्णित तथ्य ही है। उनकी मौलिकता सर्वथा नवीन विचारधारा को प्रवाहित करने में नहीं है, अपितु इन शास्त्रीय सिद्धान्तों से अपना ध्यान

हारिक अनुभव के आधार पर कुछ संशोधन तथा परिवर्तन करने में ही है। उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों तथा मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के तथ्यों की अपने समाज-दर्शन के अनुरूप तथा व्यावहारिक अनुभूति के अनुसार नवीन व्याख्या प्रस्तुत करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। वर्ण्य विषय पुराने तथा शास्त्रीय हैं परन्तु उनका स्वरूप-विश्लेषण व्यावहारिक अनुभूति पर अवलम्बित है। भाव या मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों की विवेचना के अनन्तर प्रायः समालोचक इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन निबन्धों में शुक्लजी की दृष्टि मनोविज्ञान के अन्तर्गत शास्त्रीय स्वरूप पर नहीं अपितु उनके समाजगत या जीवनगत व्यावहारिक स्वरूपों पर रहती है। कोई भी समीक्षक इन निबन्धों को शुद्ध मनोवैज्ञानिक नहीं कह सकता क्योंकि इनमें भावों का केवल शास्त्रीय विवेचन नहीं है प्रत्युत व्यावहारिक विवेचन भी है। वैज्ञानिक क्षेत्र में शुद्ध बुद्धि ही सक्रिय होती है हृदय निष्क्रिय ही रहता है परन्तु साहित्य में दोनों की सक्रियता अपेक्षित रहती है। कहीं बुद्धि की क्रिया को प्रधानता मिल जाती है और कहीं हृदय की क्रिया बुद्धि की क्रिया से आगे बढ़ने लगती है। यही बात हमें शुक्लजी के निबन्धों में परिलक्षित होती है। मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों को इसी आधार पर साहित्यिक निबन्ध कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन निबन्धों में उन्हीं भावों की साहित्यिक व्याख्या की गई है जिसका रस-प्रक्रिया के साथ सम्बन्ध है। निस्सन्देह इनमें वैज्ञानिक तथ्यों का समावेश है उस ढंग की बौद्धिकता तर्कमयता वर्गीकरण की प्रवृत्ति भी है परन्तु भावनात्मक अनुभूति का निजी व्यक्तित्व तथा भावनाओं का पुट भी यथोचित मात्रा में विद्यमान है। विषय शैली तथा उदाहरणों की दृष्टि से भी ये साहित्यिक अधिक हैं वैज्ञानिक कम।

सैद्धान्तिक समीक्षात्मक निबन्धों में भी शास्त्रीयता तथा मौलिकता का सम्मिश्रण स्पष्ट प्रतीत होता है। इनमें प्राचीन रस सिद्धान्त का समर्थन किया गया है परन्तु इसकी व्याख्या में पर्याप्त नवीनता है। प्राचीन आचार्यों की भांति रस को किसी इतर लोक की अनुभूति नहीं कहा गया है। रस सिद्धान्त

में शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना तथा लोक सामान्यभूमि की कल्पना नवीन है। प्रत्यक्ष रूप-विधान को भी कल्पित रूप विधान के समान रसोद्बोधक मानना उनकी नवीन उद्भावना है। प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन में तथा कल्पित रूप विधान में समान रूप से रसानुभूति की समता स्वीकार करना एक नवीनता ही है। शास्त्रीय सिद्धान्तों को समयानुकूल व्यापक बनाने के लिए उनकी नवीन व्याख्या में भी शुक्लजी की मौलिकता निर्विवाद है। उदाहरण के लिए साधारणीकरण के प्रसंग में रस की विभिन्न कोटियों की उद्भावना और इस सिद्धान्त का नवीन पाश्चात्य व्यक्ति वैचित्र्यवाद के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न उनकी मौलिकता का स्पष्ट प्रमाण कहा जा सकता है।

भारतीयता—शुक्लजी के निबन्धों में भारतीय जीवन का ही चित्र विशेषतया अंकित हुआ है। भारतीय दर्शन धर्म साहित्य तथा इतिहास के तथ्यों का ही विवेचन उनके निबन्धों में हमें मिलता है। 'उत्साह' के प्रसंग में उन्होंने गीता के कर्म सिद्धान्त का समर्थन किया है। इसी प्रकार भारत में प्रचलित भक्ति भावनाओं में से भारतवर्ष की शास्त्रीय एवं परम्परा प्राप्त सगुण भक्ति के प्रति ही अपनी आस्था व रुचि प्रदर्शित की है। भक्ति के स्वरूप निरूपण में भी भारतीय परम्पराओं तथा ग्रन्थों को ही अपने चिन्तन का प्रमुख आधार बनाया है। उनकी साहित्यिक अनुभूति मूलतः भारतीय काव्य सिद्धान्तों के प्रति ही परिलक्षित होती है। यदि कहीं संशोधन व परिवर्तन भी हुआ है तो वह केवल भारतीय सिद्धान्तों को अधिक व्यापक बनाने के उद्देश्य से ही हुआ है। मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में भाव के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए भारतीय जीवन से ही उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। स्थान-स्थान पर भारतीय साहित्यिक ग्रन्थों के उद्धरण भी भारतीयता के सूचक कहे जा सकते हैं।

निगमन एवं व्याख्यात्मक पद्धति—विचारात्मक निबन्धों की प्रायः दो शैलियाँ प्रचलित हैं—आगमन तथा निगमन। आगमन शैली में निबन्धकार सामान्य से विशेष की ओर जाता है अर्थात् वह सामान्य अपने

विचारों का विन्यास तथा उनकी व्याख्या करने के उपरान्त निष्कर्ष के रूप में विशिष्ट सिद्धान्त या सूत्र वाक्य प्रस्तुत करता है मानो वह उस निष्कर्ष तक तर्क व अनुमान के माध्यम से पहुँच सका है। दूसरी ओर निगमन शैली का निबन्धकार विशेष से सामान्य की ओर प्रवृत्त होता है अर्थात् वह प्रारम्भ में ही अपने चिन्तन का सार, विशिष्ट सिद्धान्त या सूत्र वाक्य विन्यस्त कर देता है और तदनन्तर उसकी विवेचना उदाहरणों उद्धरणों व तर्क द्वारा करता चलता है। गुलाबजी के निबन्धों में प्रायः निगमन शैली का ही अनुसरण हुआ है। वे प्रतिपाद्य विषय सम्बन्धी अपना निष्कर्ष संकेत रूप में प्रारम्भ में ही कर देते हैं। फिर उसकी सुनिश्चित क्रम से व्याख्या करते चलते हैं। मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध प्रायः इसी शैली में लिखे गए हैं। यही कारण है कि इन निबन्धों का प्रारम्भिक वाक्य एक प्रकार से सूक्ति रूप में ही मिलता है। 'अनुभूति के द्वन्द्व ही से प्राणी के जीवन का प्रारम्भ होता है' 'दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है वही स्थान आनन्दवर्ग में उत्साह का है' इत्यादि। निगमन शैली एक प्रकार से व्याख्यात्मक पद्धति ही है। प्रारम्भ में विन्यस्त सूत्र वाक्य की व्याख्या ही उक्त निबन्धों में प्रस्तुत की गई है। गुलाबजी ने वर्ण्य विषय की व्याख्या करने के लिए तुलनात्मक शैली का भी प्रचुरता से प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त वे अपने विषय के स्पष्टीकरण के लिए बीच-बीच में उपसंहार भी करते चलते हैं। निरूपित विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए वे 'सारांश यह है' इस वाक्यांश से अपने निष्कर्ष संक्षिप्त तथा सारपूर्ण वाक्यों के द्वारा प्रस्तुत कर देते हैं।

समास शैली—विषय प्रतिपादन तथा स्पष्टीकरण के लिए निगमन तथा व्याख्यात्मक पद्धति अपनाने पर भी गुलाबजी के वाक्य विन्यास में समास शैली का ही संकेत होता है। इस शैली में वाक्य रचना इस रूप में की जाती है कि प्रत्येक वाक्य नवीन विचार को लेकर ही आता है। नवीन विचार के लिए नवीन वाक्य आता है पुराने विचार के लिए नया वाक्य नहीं आता है। विन्यस्त वाक्यों में इस प्रकार विचारों का तौता-सा बँध जाता है। प्रायः प्रत्येक वाक्य विचारों का समूह-सा प्रतीत होता है। गुम्फ

जी के निबन्ध प्रायः इसी शैली में लिखे गए हैं। उनका प्रत्येक वाक्य विचारमाला का रूप धारण कर लेता है। कहीं किसी व्यर्थ शब्द का विन्यास नहीं। सन्दर्भ में से किसी वाक्य को निकाला नहीं जा सकता है। कई स्थलों पर ऐसे शब्दों का विन्यास कर दिया गया है जिनकी स्वतन्त्र व्याख्या की अपेक्षा है। इस प्रकार पाठक की ग्राहक-कल्पना का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। यदि वह ऐसे व्याख्येय पदों की व्याख्या स्वयं नहीं कर पाता है तो सम्पूर्ण विषय के समझने में उसे कठिनता की अनुभूति होती है। यही कारण है कि इनके निबन्ध कथ्य विषय तथा भाषा की दृष्टि से उच्च श्रेणी के विचारशील पाठकों के लिए ही उपयोगी कहे जा सकते हैं। सामान्य एवं निम्नस्तर के पाठकों के लिए वे नीरस एवं भार स्वरूप ही बन गए हैं। एक ही विचार को कई प्रकार के शब्दों तथा वाक्यों के द्वारा स्पष्ट करने से जो एक प्रकार की तन्मयता भाषा में आ जाती है वह उनके निबन्धों में नहीं आ सकी है। विचारों के अत्यधिक भार से भाषा समासपद्धति से ही प्रभावित होती है अनेक वाक्य तो सूत्र हो गए हैं। 'व्यापक प्रत्यय' 'संकुचित और परिमित विधान' 'मनोमय' 'ज्ञानशून्य' 'प्रत्यक्षानुभव प्रयास' 'स्वरूप बिम्ब की रक्षा' 'आदर्श रूप का संघटन' 'सामान्य आदर्श' और 'कल्पना-योजना का सांगोपांग विधान' इत्यादि शब्द तथा वाक्यांश विभिन्न वाक्यों में प्रयुक्त होकर बिना व्याख्या के भाव स्पष्ट करने में कठिनता उत्पन्न कर देते हैं।

भाषा का स्वरूप—व्यास समास-शैली के अनुसरण से शुक्लजी की गद्य भाषा का स्वरूप तत्सम शब्द बहुल हो गया है। सामान्यतः मनोविकार सम्बन्धी तथा समीक्षात्मक निबन्धों में तत्सम शब्दों के प्रयोग ही अपनाया गया है परन्तु समीक्षात्मक निबन्धों में तद्भव शब्दों, प्रचलित शब्दों, मुहावरों और लोकोक्तियों का यथास्थान उचित प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त गम्भीरता उनकी भाषा की उल्लेखनीय विशेषता है। वह गम्भीर से गम्भीर विषयों के प्रतिपादन के लिए सक्षम कही जा सकती है। कहीं कहीं हास्य-व्यंग्य की झलक भी इस गम्भीरता के वातावरण को हटाती हुई दिखाई पड़ जाती है। गद्य भाषा की तथ्य निरूपण शैली का प्रायः उन्होंने

अनुसरण किया है। भावावेश शैली का बहुत थोड़े स्थलों पर ही प्रयोग हुआ है। कई ऐसे स्थल भी हमें मिल जाते हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि उनकी भाषा में वस्तु अथवा दृश्यों के चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता विद्यमान है। उससे मूर्तिविधायिनी शक्ति का संकेत मिलता है। प्रायः भाषा इतिवृत्तात्मक है। भाव प्रकाशन के अवसर विचारात्मक निबन्धों में अत्यल्प होते हैं अतएव गुप्तजी के निबन्धों की भाषा में भाव प्रकाशन की धारा-तरंग विशेष शैलियों का प्रायः अभाव है।

गुप्तजी के निबन्धों की भाषा कहीं-कहीं काव्य गुणों से युक्त भी मिलती है। वह अलंकृता कही जा सकती है। 'प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसार के सौरभ-संचार, मकरन्द लोलुप मधुप-गुंजार, कोकिल कूजित निकुञ्ज और शीतल-सुख-स्पर्श समीर' इत्यादि प्रयोगों में भाषा को अनुप्रास की छटा से सुशोभित करने की तथा काव्यगत सौन्दर्य की सृष्टि करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इसके साथ ही कहीं-कहीं ऐसे भी स्थल मिल जाते हैं जहाँ सरल तथा भावमयी शैली का अनुसरण किया गया है जहाँ गुप्तजी का हृदय मत्त भाव अपने अविरल प्रवाह के साथ पूरे वेग से धारा के समान आगे बढ़ता-चलता प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों की भाषा में दुरूहता या अस्पष्टता नहीं। यह हम निस्संकोच कह सकते हैं कि उनका भाषा पर पूर्ण अधिकार है। वह उनके [illegible] अनुगामिनी एवं अनुवर्तिनी है। जैसे भाव का प्रकाशन [illegible] धारण कर लेती है। उनके भाव भाषा के

शब्द ही अभिव्यक्त प्रयुक्त होते हैं। कहीं-कहीं इस व्यंग्य के साथ हृदय का क्षोभ भी भाषा के शब्दों तथा वाक्यों में उभरता प्रतीत होता है। अपनी भाषा में ही वे कहीं भर्त्सना करते चमकाते कोसते भुँझलाते कहीं संलाप या भाषण करते कहीं विवरण प्रस्तुत करते दृष्टिगोचर होते हैं। कभी-कभी उनकी नीतिवादिता पूरे वेग के साथ आगे बढ़ने लगती है और उनकी भाषा में भाषण शैली का विकास होने लगता है और वे व्याख्यान देते प्रतीत होते हैं। शुक्लजी की भाषा उनके व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिबिम्ब करती है। गम्भीर विषय के विवेचन में गम्भीरता तथा हृदय के भावों के प्रकाशन में सरलता इसी तथ्य पर प्रकाश डालती है। तथ्य निरूपण के बीच-बीच भावाभिव्यंजक भाषा का समावेश पर्याप्त रोचक कहा जा सकता है। बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले उर्दू-फारसी के प्रचलित शब्द भी स्वच्छन्दता से लाए गए हैं। उदाहरण के लिए दास्तान, हरदम, जमाना, नाचार, बखत, इजारा मुरौवत, गुर्द-गरीब पैर, मौसम, मजार, जुर्म, सलाम-उल-हवाम आदि शब्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं। लोकोक्तियों तथा मुहावरों के यथा स्थान एवं यथोचित रीति से प्रयुक्त होने से भाषा में प्रभावोत्पादकता की सृष्टि हुई है। निस्सन्देह भाषा-विषयक शुक्लजी का दृष्टिकोण बड़ा उदार था। वे भावों के अनुरूप भाषा को रूप प्रदान करने में पूर्ण सिद्धहस्त कहे जा सकते हैं। उनके निबन्धों की साहित्यिकता में भाषा-सम्बन्धी गुणों का भी पर्याप्त भाग कहा जा सकता है।

सूक्तिमयता—शुक्लजी की तथाकथित सम्पन्नता के बुद्धि पक्ष का जैसे हृदय शक्ति ने सरसता प्रदान की वैसे ही उनकी सूक्तिमयता ने इस पक्ष का आलोकित किया है। उक्ति से केवल पक्ष का पोषण मात्र होता है परन्तु सूक्ति पक्ष प्रकाशन में चमत्कारपूर्ण कौतुक सम्पन्न कर देती है। शुक्लजी ने अपने निबन्धों में ऐसी अनेक स्वरचित सूक्तियाँ विन्यस्त की हैं कि उनकी भाषा में साहित्यिक-सौष्ठव की सृष्टि हो गई है। उनकी जीवनानुभूतियाँ बड़े मार्मिक ढंग से इन सूक्तियों के द्वारा पाठक तक पहुँचती हैं। प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर ऐसी अनेक सूक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। मनोविकार सम्बन्धी

अनुसरण किया है। भावावेश शैली का बहुत थोड़े स्थलों पर ही प्रयोग हुआ है। कई ऐसे स्थल भी हमें मिल जाते हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि उनकी भाषा में वस्तु अथवा दृश्यों के चित्र प्रस्तुत करने की क्षमता विद्यमान है। उनसे मूर्तिविधायिनी शक्ति का संकेत मिलता है। प्रायः भाषा इतिवृत्तात्मक है। भाव प्रकाशन के अवसर विचारात्मक निबन्धों में अत्यल्प होते हैं अतएव गुप्तजी के निबन्धों की भाषा में भाव प्रकाशन की धारा-तरंग विक्षेप शैलियों का प्रायः अभाव है।

गुप्तजी के निबन्धों की भाषा कहीं-कहीं काव्य गुणों से युक्त भी मिलती है। यह अलंकृता कही जा सकती है। 'प्रफुल्ल प्रसून प्रसार के सौरभ-संचार, मकरन्द लोलुप मधुप-गुंजार कोकिल कूजित निकुञ्ज और शीतल-सुख-स्पर्श समीर' इत्यादि प्रयोगों में भाषा को अनुप्रास की छटा से सुशोभित करने की तथा काव्यगत सौन्दर्य की सृष्टि करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इसके साथ ही कहीं-कहीं ऐसे भी स्थल मिल जाते हैं जहाँ तरल तथा भावमयी शैली का अनुसरण किया गया है जहाँ गुप्तजी का हृदय मन भाव अपने अविरल प्रवाह के साथ पूरे वेग से धारा के समान आगे बढ़ता चलता प्रतीत होता है। ऐसे स्थलों की भाषा में दुरूहता या अस्पष्टता नहीं। यह हम निस्संकोच कह सकते हैं कि उनका भाषा पर पूर्ण अधिकार है। वह उनके भावों की अनुगामिनी एवं अनुवर्तिनी है। जैसे भाव का प्रकाशन करना होता है भाषा वैसा ही रूप धारण कर लेती है। उनके भाव भाषा के रूप से झलकने लगते हैं। जहाँ-जहाँ उनकी हृदयवृत्ति ने आगे बढ़कर अन्तर्भावों के पथ पर अपना प्रसार किया है वहाँ-वहाँ भाषा सर्वथा भावानुसारिणी ही कही जा सकती है। हृदय वृत्ति के प्रसार के संकुचित होते ही भाषा अपने सहज-संयत एवं गंभीर-रूप को धारण करके बुद्धि वृत्ति की सेवा में निरत हो जाती है। जहाँ वे किसी कुप्रवृत्ति के प्रति व्यंग करना चाहते हैं वहाँ उनकी विनोदवृत्ति सहायक बनकर भाषा को तदनुकूल रूप प्रदान कर देती है। जहाँ कहीं ऐसे हास्य और व्यंग के स्थल उनके निबन्धों में आए हैं वहाँ भाषा का रूप अत्यन्त सरल है और वहाँ प्रचलित बोलचाल की भाषा के

शब्द ही अधिकतर प्रयुक्त होते हैं। कहीं-कहीं इस व्यंग्य के साथ हृदय का क्षोभ भी भाषा के शब्दों तथा वाक्यों में उभरता प्रतीत होता है। अपनी भाषा में ही वे कहीं व्याख्या करते समझाते जोशमें झुंझलाते कहीं संलाप या भाषण करते कहीं विवरण प्रस्तुत करते दृष्टिगोचर होते हैं। कभी-कभी उनकी नीतिवादिता पूरे वेग के साथ साथ चलने लगती है और उनकी भाषा में भाषण शैली का विकास होने लगता है और वे व्याख्यान देते प्रतीत होते हैं। शुक्लजी की भाषा उनके व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिबिम्बित करती है। गम्भीर विषय के विवेचन में गम्भीरता तथा हृदय के भावों के प्रकाशन में सरसता इसी तथ्य पर प्रकाश डालती है। तथ्य निरूपण के बीच-बीच भावा भिव्यंजक भाषा का समावेश पर्याप्त रोचक कहा जा सकता है। बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले उर्दू-फारसी के प्रचलित शब्द भी स्वच्छन्दता से आने गए हैं। उदाहरण के लिए दास्तान, हरदम, तमाशा, नाराज, वक्त, इशारा, मुरौवत, हुक्म-अमीन, पैर, मौसम, नजर, जुम, सल्तन-उल-इस्लाम आदि शब्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं। लोकोक्तियों तथा मुहावरों के यथा स्थान एवं यथोचित रीति से प्रयुक्त होने से भाषा में प्रभावोत्पादकता की सृष्टि हुई है। निस्सन्देह भाषा-विषयक शुक्लजी का दृष्टिकोण बड़ा उदार था। वे भावों के अनुरूप भाषा को रूप प्रदान करने में पूर्ण सिद्धहस्त कहे जा सकते हैं। उनके निबन्धों की साहित्यिकता में भाषा-सम्बन्धी गुणों का भी पर्याप्त भाग कहा जा सकता है।

सूक्तिमयता—शुक्लजी की समन्वयशीलता के बुद्धि पक्ष का जैसे हृदय वृत्ति में सरसता प्रदान की वैसे ही उनकी सूक्तिमयता ने उस पक्ष को आलोकित किया है। उक्ति में केवल पक्ष का बोधन मात्र होता है परन्तु सूक्ति पक्ष प्रकाशन में चमत्कारपूर्ण कौतुक उत्पन्न कर देती है। शुक्लजी ने अपने निबन्धों में ऐसी अनेक स्वरचित सूक्तियाँ निरूपण की हैं कि उनकी भाषा में साहित्यिक-सौष्ठव की सृष्टि हो गई है। उनकी जीवनानुभूतियाँ बड़े मार्मिक ढंग से इन सूक्तियों के द्वारा पाठक तक पहुँचती हैं। प्राय प्रत्येक पृष्ठ पर ऐसी अनेक सूक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। मनोविकार सम्बन्धी

निबन्धों में तो उनकी भरमार है। इनमें पर्याप्त काव्यत्व है। कविता की भाँति ये भी शीघ्र ही जीभ पर नाचने लगती हैं। उदाहरण के लिए कुछ सूक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं—१ भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है २ कर्म सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं ३ प्रेम में घनत्व अधिक है श्रद्धा में विस्तार ४ यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण ५ करुणा सेन का सौदा नहीं ६ दूसरों का भय हमें भगा सकता है हमारी बुराई को नहीं ७ लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख ८ ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावती वृत्ति है ९ वैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है १० कर्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं।

इतिहास सम्बन्धी रचनाएँ—शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास भी लिखा है। प्रश्न यह है कि क्या इस इतिहास को उनकी साहित्यिक रचनाओं में परिगणित किया जा सकता है। यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस रूप में यह इतिहास लिखा गया है उस रूप में यह संभवतः साहित्य का एक विशिष्ट रूप माना जा सकता है। यह शुद्ध इतिहास नहीं है इसने तो ऐतिहासिक समालोचना का रूप धारण कर लिया है। शुद्ध इतिहास में व्यक्ति की प्रधानता नहीं दी जाती अर्थात् उसमें लिखने वाले का अपना व्यक्तित्व प्रतिफलित नहीं होता है। साहित्यिक रचना के लिए व्यक्तित्व के प्रतिष्ठान की अपेक्षा स्वीकार की जाती है। शुक्लजी के इस इतिहास में कुछ अंश ऐसा भी है जिसमें उनका अपना निरपेक्ष चिन्तन स्वतन्त्र मान्यताएँ, व धारणाएँ, रुचि व प्रवृत्ति का आभास स्पष्टतया मिल सकता है। जिस भावयित्री प्रतिभा से किसी कवि की समीक्षा की जाती है रचना के गूढ़तम रहस्यों का अन्वेषण-विश्लेषण किया जाता है, उसकी अन्तः प्रवृत्तियों का निर्धारण व विवेचन किया जाता है वही भावयित्री प्रतिभा इस इतिहास के मूल में भी परिलक्षित होती है। इस प्रकार इसमें ऐतिहासिकता और साहित्यिकता का समन्वय हो गया है। ऐतिहासिकता कवियों के इतिवृत्त संवत् आदि के समावेश से सम्पन्न हो गई है और साहित्यिकता कवियों की रचनाओं की समीक्षा से समाविष्ट हो गई है। यह इति

द्वारा कवियों की मूल प्रवृत्तियों, रुचियों, साहित्यिक विशेषताओं, उनकी पारस्परिक समताओं व विषमताओं के अध्ययन में भी सहायता हो सकती है। समीक्षात्मक ग्रन्थों के अभाव में उनकी साहित्यिक कृतियों के निर्णय व स्वरूप निर्धारण में पथ-प्रदर्शन में उपयोगिता मानी जा सकती है। यद्यपि साहित्य-समीक्षा और साहित्य के इतिहास में सामान्य भिन्नता होती है तथापि शुक्लजी ने अपने इस इतिहास में इन दोनों में अभिन्नता स्थापित कर दी है। यह 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' इतिहास के साथ समीक्षा भी है अतएव यह साहित्य का ही एक अंग बन गया है।

शुक्लजी के इस इतिहास में उनके व्यक्तित्व का अनुसन्धान किया जा सकता है। कहीं कहीं उन्होंने अपने वैयक्तिक जीवन का भी अंश प्रस्तुत किया है। विशेषतया उनका व्यक्तित्व कवियों की समीक्षा तथा मूल्यांकन में प्रतिबिम्बित हुआ है। कबीर तथा केशव के इतिवृत्त का अध्ययन करने पर शुक्लजी ने अपनी धार्मिक व साहित्यिक मान्यताओं की प्रमुखता दी है। शुद्ध इतिहासकार वैज्ञानिक की भाँति निरपेक्ष होकर इतिवृत्त का विवरण प्रस्तुत करता है परन्तु उन्होंने सापेक्षता से उक्त कालों, कवियों का इतिवृत्त प्रस्तुत किया है। यही सापेक्षता प्रायः प्रत्येक काल के कवियों के विवरण व विवेचन में सिद्ध की जा सकती है।

शुक्लजी के व्यक्तित्व की सर्वप्रमुख विशेषता वैज्ञानिक प्रवृत्ति है। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने में पूर्व उन्होंने अपनी इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर 'काल विभाजन' किया और तदनुसार अन्वेषण-संश्लेषण की प्रक्रिया से इतिहास के स्वरूप की उद्भावना की है।

साहित्य के इतिहास की परिभाषा—शुक्लजी ने काल विभाजन के आधार की प्रतिष्ठा के लिए सर्वप्रथम 'साहित्य के इतिहास' की परिभाषा निर्धारित की है। वे कहते हैं "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चलता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की

परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उसका सामञ्जस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।

काल विभाजन—उक्त परिभाषा को अपना मूल आधार बना कर मुक्लजी ने 'काल विभाजन' के लिए 'चित्तवृत्ति' को ग्रहण किया है। कवियों की सामान्य चित्तवृत्ति का अनुशीलन करके साहित्यिक प्रवृत्ति का निर्धारण और उस प्रवृत्ति के विस्तार के काल के अनुसन्धान के द्वारा विकास-क्रम की सीमा का निर्णय इस इतिहास के काल विभाजन के प्रमुख अंग कहे जा सकते हैं।

नामकरण—कालक्रम का विभाजन करने के उपरान्त उसका नामकरण भी विशिष्ट साहित्यिक रचनाओं की बहुलता को दृष्टि में रखते हुए किया गया है अर्थात् एक काल में जिस प्रकार की रचनाएँ अधिक संख्या में निर्मित हुई हैं उन्हीं के आधार पर उन्होंने उस काल विशेष का नामकरण कर दिया है। यही कारण है कि उन्होंने प्रत्येक काल के प्रारम्भ में 'सामान्य परिचय' लिखा है। उन्होंने हिन्दी साहित्य के नौ सौ वर्षों के इतिहास का निम्नलिखित रूप से विभाजन व नामकरण किया है—

१ आदिकाल (वीरगाथा काल संवत् १ ५ —१३७५) २ पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल संवत् १३७५—१७) ३ उत्तर मध्यकाल (रीति काल संवत् १७ —१९) ४ आधुनिक काल (गद्य काल संवत् १९ —१९८४)

वीर गाथा काल—(१ ५ —१३७५) तीन सौ पच्चीस वर्ष के इस दीर्घ काल के नामकरण का आधार चित्तवृत्ति ही है। इस नामकरण के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि "आदि काल की इस दीर्घ परम्परा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है। धर्म नीति शृंगार वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरम्भ होता है तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बंधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति

शृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यही प्रबन्ध परम्परा 'रासो' के नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा काल' कहा है।"

यह स्पष्ट है कि उन्होंने काल विभाजन तथा नामकरण में रचनाओं और उनकी विषय प्रवृत्तियों का ही ध्यान रखा है रचयिता कवियों को नहीं। इस प्रकार काल का नामकरण करके फिर उन्होंने उसका विभाजन किया है। इस काल के भाषा स्वरूप का आधार बना कर उन्होंने इसे तीन भागों में विभक्त कर दिया—अपभ्रंश काव्य देश भाषा काव्य (वीरगाथा) फुटकर रचनाएँ। फिर इन तीनों का पृथक-पृथक विवेचन किया है। इस सारे वर्गीकरण और विवेचन में उनका अपना व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। वे काव्यत्व के लिए स्वाभाविक अनुभूतियों को महत्व देते हैं। यही बात हम यहाँ मिलती है। वर्गीकरण करते हुए इसीलिए उन्होंने 'अपभ्रंश काव्य' शब्द का प्रयोग किया है 'अपभ्रंश साहित्य' नहीं। इसके विपरीत 'देश भाषा काल' न कह कर 'देश भाषा काव्य' का प्रयोग किया है। अतएव सिद्धों और नाथियों की रचनाओं को शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानते हैं क्योंकि उनमें साम्प्रदायिक शिक्षाएँ तो हैं परन्तु उनका जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

'रासो' ग्रन्थों की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता सम्बन्धी सारा विवेचन 'निबन्ध' रूप का संकेत करता प्रतीत होता है। फुटकर रचनाओं के प्रकरण में भी उनके व्यक्तित्व की झलक मिलती है। उनकी रुचि व प्रवृत्ति विद्यापति के प्रसंग की इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—"आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने 'गीत गोविन्द' के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी। सूर आदि कृष्ण भक्तों के शृंगारी पदों की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। पता नहीं बाल लीला के पदों का वे क्या करेंगे।"

भक्ति काल—इस काल में विवेचन व इतिवृत्त वर्णन का उचित क्रम ही दृष्टिगोचर होता है। 'सामान्य परिचय' में उस सामान्य चित्तवृत्ति का परिचय दिया गया है जिसके आधार पर काल की सीमा का निर्धारण तथा नामकरण किया गया है। तदनन्तर विशेषताओं के आधार पर इस काल की रचनाओं का वर्गीकरण करके कवियों का इतिवृत्त तथा उनकी कृतियों की आलोचना प्रस्तुत की गई है। यह 'सामान्य परिचय' एक प्रकार से भक्ति काल विषयक निबन्ध ही है। इस प्रकार इतिहास सम्बन्धी यह ग्रन्थ साहित्यिक रूप धारण कर लेता है। शुक्लजी की समन्वयवादी प्रवृत्ति तथा काव्य सौन्दर्य की रुचि स्पष्ट रूप से इस परिचय की पंक्तियों में मिलती है। इसमें विषय की प्रधानता के साथ व्यक्तित्व की सत्ता भी परिलक्षित होती है। भक्ति काल की विभिन्न धाराओं का स्वरूप तथा इनके अन्तर्गत आने वाले कवियों के इतिवृत्त और रचनाओं की समीक्षा इस प्रकरण में प्रस्तुत कर दी गई है। समीक्षा का आधार भी दृढ़ रूप से भारतीय काव्य सिद्धान्तों को बनाया गया है। इतिहासान्तर्गत कवियों की संक्षिप्त सारपूर्ण समीक्षाएँ साहित्यिकता का पूर्ण परिचय देती हैं। विश्वम्भर मानव के कथनानुसार साहित्य के इतिहास को चित्र भवन समझना चाहिए। इस चित्र भवन में साहित्यकारों के आकृति चित्र के साथ उनके हृदय और मस्तिष्क के चित्र भी रहने चाहिए। शुक्लजी का इतिहास इसी प्रकार का चित्र भवन है। इस दृष्टि से वे एक निपुण चित्रकार कहला सकते हैं।

एक ही धारा के अन्य कवियों के साथ किसी कवि की तुलनात्मक समीक्षा ऐतिहासिक समीक्षा कही जा सकती है। ठीक यही रूप हमें इस इतिहास में स्थान-स्थान पर मिलता है। प्रेममार्गी कवियों की परम्परा का इतिवृत्त प्रस्तुत करते हुए उन्होंने प्रेम काव्यों में वर्णित कथाओं का सारांश रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। यह अंश भी पूर्ण साहित्यिकता का विधायक है। तुलसीदास के प्रसंग में निर्णयात्मक समीक्षा का भी रूप इतिहास में मिल जाता है जब वे यह लिखते हैं कि भारतीय जनता का कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो तुलसीदास को। इतिहासान्तर्गत ऐसे

समीक्षात्मक स्थल शुक्लजी के व्यक्तित्व का पूरा आभास देते हैं। उनकी हृदयवृत्ति इतिहास की मरुभूमि को अपनी सरसता से हरित क्षेत्र के रूप में परिवर्तित कर देती है। ऐसे ही स्थलों के कारण यह इतिहास उनकी साहित्यिक प्रतिभा को सूचित करता है। इन स्थलों की भाषा भी अन्तस्तल एवं मर्म स्पर्शिनी है यह काव्य गुणों से युक्त कही जा सकती है। कबीर और बिहारी की समीक्षाओं में उनकी हृदय वृत्ति स्पष्ट झलकती प्रतीत होती है। भावना भाषा में बल का संचार कर देती है। भावनाओं की प्रेरणा पाकर जब शुक्लजी किसी कवि की समीक्षा करते हुए अपना निर्णय प्रस्तुत करते हैं तो उसमें पर्याप्त प्रभावोत्पादकता उत्पन्न हो जाती है। ऐसे निर्णयों में तर्क और भावना का समन्वय भाषा में सजीवता की सृष्टि कर देता है।

आधुनिक काल—आधुनिक काल के प्रकरण में भी उनके व्यक्तित्व की झाँकी स्थान-स्थान पर हमारे सम्मुख आती है। एक आलोचक की यह उक्ति कि 'स्थान-स्थान पर साहित्यिक व्यंग्य हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक विशेषता है' वास्तव में सारपूर्ण एवं सत्य कही जा सकती है। इस काल के विवेचन में तो उनकी व्यंग्य प्रवृत्ति को अपने प्रसार के लिए अनेक अवसर मिलते रहे हैं। इस दृष्टि से द्वितीय उत्थान का प्रकरण विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त गद्य धारा के तृतीय उत्थान का विवरण तो पूर्णतया साहित्यिकता का ही स्मारक कहा जा सकता है। उसकी भाषा उसकी विवेचन शैली उसकी भावाभिव्यक्ति उसके विचारों की गम्भीरता सभी काव्यत्व के गुणों से भरपूर है। शुक्लजी की छायावादी प्रवृत्ति के सम्बन्ध में अपनी धारणाएँ व भावनाएँ विभिन्न रूपों में अवसर पाकर उनकी ओजस्वी परिणति होती है। कहीं उनका क्षोभ कहीं उनका व्यंग्य उभड़ता कहीं उनकी बुद्धि-वृत्ति कहीं तर्कपूर्ण युक्तियाँ इस सारे प्रकरण को सजीव एवं प्रभावोत्पादक काव्यस्वरूप में परिणत कर देती हैं। यह सारा प्रसंग साहित्यिक निबन्ध या व्याख्यात्मक आलोचना का उदात्त स्वरूप उपस्थित करता है। छायावाद रहस्यवाद के चार प्रमुख आधार स्तम्भों जयशंकर

प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला तथा महादेवी वर्मा की कृतियों की समीक्षा उनकी साहित्यिकता का ही संकेत करती है। उनकी ऐतिहासिकता पर साहित्यिकता का भीना आवरण पड़ता परिलक्षित होता है अतः यह कहा जा सकता है कि उनका यह 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी एक प्रकार से साहित्यिक रचना ही है। इसके द्वारा भी वे अपनी बात को प्रबल युक्तियों तथा उदाहरणों के माध्यम से सिद्ध करने का यत्न करते हैं और उसे दूसरों के हृदय और मस्तिष्क तक पहुँचाने का उपक्रम करते हैं। इसे भी वे आलोचना के समान साहित्यिक मति के निमज्जन में साधन बनाना चाहते हैं। साहित्य के समान इसमें भी वह शक्ति निहित करना चाहते हैं जो पाठकों के हृदय पर अपनी अमिट छाप उत्पन्न कर सके। निस्संदेह उनका यह इतिहास आलोचना-साहित्य के समान रचनाकारों की मनोवृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण में और रचनाओं में अन्तर्व्याप्त सूक्ष्म रहस्यों के अनुशीलन में पूर्ण सहायक कहा जा सकता है।

अनूदित गद्य ग्रन्थ—अन्य भाषाओं की गद्यात्मक रचनाओं का अनुवाद शुक्लजी ने किया है। ये अनुवाद अंग्रेजी तथा संस्कृत भाषा के ग्रन्थों के हैं। अधिक संख्या अंग्रेजी से अनूदित ग्रन्थों व लेखों की है। अनूदित ग्रन्थों को वर्ण्य विषय के आधार पर चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—१.शिक्षात्मक २ दार्शनिक ३ ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक ४ साहित्यिक।

शिक्षात्मक ग्रन्थों में 'राज्य प्रबन्ध शिक्षा' और 'आदर्श जीवन' नामक दो ग्रन्थ लिए जा सकते हैं। 'राज्य प्रबन्ध शिक्षा' नामक ग्रन्थ सर टी० माधवराव के Minor Hints नामक अंग्रेजी ग्रन्थ का अनुवाद है और 'आदर्श जीवन' स्माइल्स के Plain living and high Thinking' का अनुवाद है। Minor Hints की रचना महाराज सयाजीराव को राज्य प्रबन्ध की शिक्षा देने के लिए की गई थी। अनुवाद करते समय शुक्लजी ने मूल ग्रन्थ के कुछ अंशों को बीच-बीच में छोड़ भी दिया है और 'परिशिष्ट' के रूप में महाराज विजगा द्वारा लिखित 'राजकुमारों के लिए कुछ अमर बातें' शीर्षक लेख भी संकलित कर दिया है। 'आदर्श जीवन' में मूल

पुस्तक के कुछ अंश भारतीय विद्यार्थियों के लिए अनावश्यक समझकर छोड़ दिये गए हैं। दृष्टान्त रूप से मूल पुस्तक में जहाँ यूरोप के प्रसिद्ध पुरुषों के वृत्तान्त आए हैं वहाँ यथासम्भव भारतीय पुरुषों के दृष्टान्त दे दिये गए हैं। इस प्रकार यह अनुवाद भारतीय पाठकों के लिए उपयोगी बना दिया गया है।

दर्शन सम्बन्धी विषय को लेकर उन्होंने 'विश्व प्रपंच' नामक अनूदित ग्रन्थ लिखा है। यह जर्मन दार्शनिक हैकल की विख्यात पुस्तक Riddle of the Universe का अनुवाद है। शुक्लजी इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी के पाठकों को आधुनिक भौतिक विज्ञान तथा दर्शन से परिचित कराना चाहते हैं। मूल विषयों को अधिक स्पष्ट करने के लिए उन्होंने इस पुस्तक के प्रारंभ में लगभग डेढ़ सौ पृष्ठों की भूमिका लिखी है। यह भूमिका उनके दार्शनिक व वैज्ञानिक ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन व मनन का परिणामस्वरूप है। भूमिका में भौतिकी Physics के मूल भूत तत्वों का सामान्य परिचय करवाया गया है। साथ ही जीव विज्ञान Biology और डारविन के विकास वाद की चर्चा कर दी गई है। इसके अतिरिक्त प्रसंगानुसार रसायन शास्त्र Chemistry तथा भूगर्भ विद्या Geology सम्बन्धी तथ्यों पर भी विचार प्रस्तुत किये हैं। अन्तिम भाग में भौतिकवाद तथा आत्मवाद (अध्यात्म वाद) के पक्षों के तर्क भी उल्लिखित हो गए हैं। मूल पुस्तक में प्राणियों के विषय में तथा आत्मा ईश्वर, प्रकृति आदि दार्शनिक विषयों के सम्बन्ध में विवेचना है। अनुवाद को भारतीय पाठकों के लिए विशेष उपयोगी बनाने के लिए उन्होंने वृत्तान्तों तथा दृष्टान्तों के विन्यास में कुछ सामान्य परिवर्तन अवश्य किये हैं। शुक्लजी के दार्शनिक मन्तव्यों का स्वरूप इस अनूदित ग्रन्थ की भूमिका में स्पष्ट किया जा सकता है।

ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक अनुवाद ग्रन्थों में डाक्टर श्वानबक द्वारा लिखित Megasthenes Indica का अनुवाद 'मेगास्थिनीज का भारत वर्षीय विवरण' प्रसिद्ध है। वर्ण्य विषय की स्पष्टता के लिए इसके प्रारम्भ में भी भूमिका है। इस भूमिका में चन्द्रगुप्त और सिकन्दर के विषय में

नहीं । गुप्तजी ने मूल उपन्यास के पात्रों में सौम्यमीति और उसकी बहन मालती का भी समाविष्ट कर लिया है । उसका कारण कथा के प्रवाह को अपनी कल्पना के अनुरूप बदलने की चेष्टा ही है । वे कथा का अन्त भारतीय परम्परा के अनुरूप सुखान्त करना चाहते थे अतएव उन्होंने इतिहास के क्षेत्र से ऐसे तथ्यों का चयन किया जो उनकी उक्त चेष्टा में सहायक हो सकते थे । फलतः उन्होंने मूल कथा में दो नवीन पात्रों का समावेश करके नवीन तथ्यों की सृष्टि कर दी । मूल पुस्तक में करुण रस की पुष्टि के लिए मनोविज्ञान की कन्या मणिका का शशांक पर प्रेम दिखाकर 'शशांक' के जीवन के साथ ही उसके जीवन का भी अन्त कर दिया गया है परन्तु रूपान्तर में उन्होंने मणिका का प्रेम सौम्यमीति पर दिखाकर उनके प्रेम को सफल किया है । सौम्यमीति की बहन मालती का अद्भुत तथा अलौकिक प्रेम शशांक के प्रति प्रदर्शित किया है । इस प्रकार इस अनुवाद में उन्होंने अपनी कल्पना शक्ति का संचार कर दिया है ।

इन अनूदित ग्रन्थों के अतिरिक्त गुप्तजी ने कई पत्रों के लेखों का भी हिन्दी में रूपान्तर किया है । इन अनूदित लेखों को विषय की दृष्टि से देखने से विदित होता है कि इनमें मनोविज्ञान, दर्शन, प्राचीन इतिहास तथा संस्कृति के साथ सम्बन्ध रखने वाले विषय ही हैं । 'प्रकाशतत्व' 'सदाचार और उत्तम प्रकृति' 'प्रकृति व उन्नति उसका नियम और निदान' आदि लेख दर्शन व मनोविज्ञान सम्बन्धी हैं । 'भारत का प्राचीन इतिहास' 'प्राचीन भारतवासियों की समुद्र यात्रा' 'भारत के इतिहास में हूण' 'बुद्धघोष' तथा 'प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा' आदि लेख भी गुप्तजी की रुचि व प्रकृति पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं ।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से तो इन अनूदित लेखों व पुस्तकों का महत्व स्पष्ट ही है । गम्भीर से गम्भीर विषय जो अंग्रेजी भाषा में लिखा गया था उनके अनुवाद से वे विषय हिन्दी पाठकों व लेखकों के सम्मुख आये और उनमें गम्भीर चिन्तन व मनन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता गया । भाषा की दृष्टि से भी इनकी विशिष्ट उपयोगिता प्रतिपादित की जा सकती

है। विश्व प्रपंच' जैसे भौतिक व रासायनिक विषय वाली पुस्तक के द्वारा भाषा में नवीन-नवीन पारिभाषिक शब्दों का प्रचलन होने लगा। शुक्लजी ने अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों को हिन्दी रूप देते समय बड़ी तत्परता से काम लिया है अतएव ये शब्द बहुत उचित एवं सशक्त बन सके हैं। इन शब्दों के द्वारा हिन्दी गद्य में भावाभिव्यंजकता की शक्ति बढ़ गई है। इस प्रकार हिन्दी गद्य के विकास में उनके व अनूदित ग्रन्थ भी अपना विशिष्ट स्थान व महत्त्व रखते हैं। इनकी भाषा प्रौढ़ प्राञ्जल तथा सुपरिष्कृत है।

अनूदित ग्रन्थों में 'शशांक' और 'कल्पना का आनन्द' ये दो ग्रन्थ ही साहित्यिक क्षेत्र के हैं। इन दोनों ग्रन्थों की भाषा हिन्दी गद्य के प्रौढ़ रूप तथा अनेक गद्य शैलियों के उदाहरण प्रस्तुत करती है। 'शशांक' उपन्यास की भाषा वास्तव में कथा साहित्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त एवं आदर्श भाषा है। शब्द चयन की दृष्टि से यह तत्सम शब्द प्रधान है। वृत्तियों में वस्तु वर्णनों में प्रायः शब्द शुद्ध संस्कृत के हैं। तत्सम शब्दों की अधिकता होने पर भी इस गद्य रूप में कहीं भी दुरूहता तथा अस्पष्टता नहीं है। यह पर्याप्त सरल एवं सुबोध है। उसमें अपेक्षित प्रवाह है। कथा प्रसंगों के विवरण प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक स्पष्टता सर्वत्र विद्यमान है। वाक्य प्रायः सर्वत्र छोटे-छोटे तथा सरल हैं। समास शैली का नाम निशान तक नहीं है। व्यास शैली की ही सरलता सर्वत्र उपलब्ध होती है। भावावेश की स्थिति में गद्य भाषा का रूप भी आवेशपूर्ण परिलक्षित होता है। तथापि शैली की व्यावहारिकता भाषण शैली का ओजपूर्ण प्रवाह भावावेग शैली का भाव-तरंगमय प्रवाह गद्य रूप को अत्यन्त भव्य परिष्कृत एवं प्रांजल स्वरूप प्रदान करता है। कहीं-कहीं गद्य-गीतों के से रूप भी उपलब्ध हो सके हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से भी भाषा की व्यवहारोपयोगिता में उल्लेखनीय वृद्धि हो गई है। हिन्दी गद्य के विकास में भाषा की दृष्टि से जो स्थान उनके समीक्षात्मक निबन्धों का उनकी आलोचनात्मक कृतियों का है वही स्थान उनके कथात्मक अनुवाद-ग्रन्थों का भी दिया जा सकता है। उनकी यह देन भी चिरस्मरणीय एवं महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य शुक्ल नवीन आलोचकों की दृष्टि में

शुक्लजी के आलोचक और साहित्यकार रूप की विशद विवेचना करने के उपरान्त हम हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में उनका स्थान निर्धारित कर सकते हैं। आधुनिक काल के प्राय सभी प्रमुख आलोचकों ने उनके सम्बन्ध में अपनी-अपनी धारणा विभिन्न अवसरों पर अपने लेखों या ग्रन्थों में प्रकट की है। यदि उनका गम्भीरता से अनुशीलन किया जाए तो उनके स्थान व महत्त्व को समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती है।

सामान्यत सभी आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि शुक्लजी की रस मान्यताओं का उनमें वर्णित काव्य सम्बन्धी धारणाओं का आधुनिक काल के प्राय सभी आलोचकों तथा पाठकों पर गहरा प्रभाव पड़ा है। हिन्दी समीक्षा क्षेत्र में तो वे अपनी मौलिकता तथा मर्मग्राहिता के कारण युग के विधायक थे। समीक्षा का शास्त्रीय पक्ष अधिकतर उनकी मान्यताओं को लेकर ही स्थापित किया जा रहा है। समीक्षा सम्बन्धी उनके चिन्तन की प्रशंसा प्राय सभी करते हैं और यह कहते हैं कि उन्होंने भारतीय तथा पश्चिमी काव्य मीमांसा का अनुशीलन कर अपनी समीक्षा-पद्धति स्थापित की है। भारत की अन्य भाषाओं में इतना व्यापक और स्वस्थ काव्य चिन्तन हम नहीं मिलता है। जितना शुक्लजी के इस स्वच्छन्द चिन्तन से हिन्दी भाषा में सम्पन्न हो गया है।

शुक्लजी का हिन्दी साहित्य में निबन्ध शैली निर्माता इतिहास लेखक अनुवादक तथा सम्पादक रूप में भी विशिष्ट स्थान व महत्त्व दिया जाता है परन्तु उनके समीक्षक एवं काव्य मीमांसक रूप की चर्चा सर्वाधिक हुई है

अतएव वास्तव में उनका स्थान आचार्य रूप से हिन्दी साहित्य में अधिक सुनिश्चित एवं सुस्थिर है। इसी रूप को लेकर उनके सम्बन्ध में—पक्ष विपक्ष में—आलोचनाएँ की गई हैं। इसी रूप ने आधुनिक साहित्यिकों तथा समीक्षकों को आन्दोलित एवं उत्तेजित किया है। नवीन आलोचकों की दृष्टि में शुक्लजी के स्थान को स्पष्ट करने के लिए हम यहां कुछ आलोचकों की सम्मतियां प्रस्तुत करते हैं।

जैनेन्द्रकुमार—श्री जैनेन्द्रकुमार जी ने शुक्लजी के साहित्य-समीक्षा सागर के आलोड़न-विलोड़न के परिणाम स्वरूप दो रत्न प्राप्त किए हैं। उनका क्रमशः उल्लेख यहां किया जाता है—

१ "शुक्ल जी ने सत्य को आत्म समर्पण द्वारा नहीं बल्कि बौद्धिक प्रयत्नवाद के द्वारा ग्रहण किया। परिणामस्वरूप त्याग की ज्योति और समन्वय की शक्ति उतनी उनमें नहीं जगी जितनी प्रतिपादन की प्रबलता और स्थिति धर्म के समर्थन का आग्रह पुष्ट हुआ।

श्री जैनेन्द्र जी को शुक्लजी के विषय-प्रतिपादन में सरसता भावमयता तथा प्रगतिशीलता के दर्शन नहीं हुए। उन्हें उनका विषय प्रतिपादन कुछ नीरस तर्क पूर्ण तथा प्राचीन पक्षों का समर्थक ही दृष्टिगोचर हुआ है। निस्सन्देह शुक्लजी समीक्षा को तर्क पर आधारित देखना चाहते हैं। केवल हृदय की अनुभूतियों पर ही उसे अवलम्बित नहीं करना चाहते। यह भी सत्य है कि वे नवीन पाश्चात्य सिद्धान्तों को प्राचीन सिद्धान्तों की कसौटी पर परखकर ही ग्रहण करना चाहते हैं। श्री जैनेन्द्रजी के समान वे अभिव्यंजना वादी क्रोचे के प्रशंसक नहीं बन सके। श्री जैनेन्द्रजी को क्रोचे अधिक सही और सूक्ष्मदर्शी लगते हैं। यह तो रुचि-भेद के ही कारण है।

२ "वह स्थिति के प्रतिनिधि और गति के विपक्ष में स्थिति के पक्ष के योद्धा के रूप में खड़े हुए और जूझे। वह वीर थे।

शुक्लजी की साहित्यिक वीरता का स्वरूप वास्तव में सत्य है परन्तु इसका कारण केवल हठ या दुराग्रह नहीं अपितु उनका सत्याग्रह है। वीर वही है जो सत्य की रक्षा में अडिग रहे। शुक्लजी श्री जैनेन्द्र जी के

कल्पनानुसार सत्य को गढ़ कर जीवन की वस्तु की अनभिज्ञता दिखाने की ओर प्रवृत्त होने वाले न उनकी नींव मजबूत थी और वे ब्योरों में नहीं घुसते थे। इस प्रकार गवेषणा और अध्यवसाय की शक्ति से जो सत्य तत्त्व शुक्लजी के हाथ में आया था उसके प्रतिपादन व समर्थन में यदि वे इतनी कट्टरता में आगे न बढ़ते तो वे भी परिणाम की साहित्यिक बाढ़ में उसी प्रकार बहते सकते जिस प्रकार उनके तत्कालीन प्रतिपक्षी बहते रहते हैं और अपना-पन ही गँवाते रहे हैं। शुक्लजी की अनुभूत्यात्मक कसौटी उनके कटीले व्यंग्य इसी दृष्टि से स्पृहणीय अब सफल हैं।

३ व्यक्ति और समाज को अन्योन्याश्रय से नहीं वरन् व्यक्ति को समाज के निमित्त उन्होंने समझा। परिणामतः समाजनीति की कोमल काठी से अधिक और व्यक्तिगत साधना की कोमल काठी से कम उन्होंने आँकी।

शुक्लजी ने तुलसी के काव्य में लोकधर्म, लोकनीति और मर्यादावाद तथा समन्वय की कल्पना की है। उन्हें तुलसी के काव्य में व्यापक लोक-कल्याण की मंगलमयी ज्योति के दर्शन हुए हैं। श्री जैनेन्द्रजी की धारणा के अनुसार 'रामचरितमानस' तुलसी के व्यक्तित्व का निरपेक्ष आत्म निवेदन है। यदि कहीं समाजनीति के विचार एवं मर्म स्पर्श की झाँकी उसमें उपलब्ध होती है तो उसमें तुलसी का अपना कोई प्रयास नहीं क्योंकि कवि का ध्यान सीमित नहीं आत्मपरक है। इसी धारणा के आधार पर इन्होंने शुक्ल जी पर यह आक्षेप किया है कि वे तुलसी में उतरकर नहीं का बाहरी मान कर चले हैं। इसीसे काव्य में अवगाहन करते हुए भी काव्य में हैं। यह सच है कवि तक नहीं पहुँच सके हैं। तुलसी को उन्होंने बहुत-कुछ अपनी तस्वीर में देखा है उनके मानस बिम्ब में नहीं। इसी कारण व्यक्तिगत साधना और लोकधर्म-समन्वय-उपासना और लोकव्यवहार आदि में विशेष देखने का उन्हें आधार होना पड़ा है। यह आक्षेप आत्माख्यान कवि-मन के सम्बन्ध में प्रचलित नवीन मान्यताओं को अत्यधिक महत्त्व देने के ही कारण सही लगता है। शुक्लजी भी कवि की उपेक्षा नहीं करते हैं। कवि का अन्तर्जगत् ही काव्यगत पक्षों का रूप धारण करके साकार होता है इस तथ्य को भी

उन्होंने विरोध नहीं किया है। तुलसी की समीक्षा करते हुए भी उन्होंने तुलसी के व्यक्तित्व की ही छानबीन की है। यह अहम बात है कि उन्हें उस व्यक्तित्व में सामाजिकता के लोकधर्म के मर्यादावाद के अपनापा के बीज अंकुरित एवं पल्लवित दिखाई पड़े हैं। समाजनीति की स्थापना या व्याख्या के लिए कवि की उपेक्षा करना उनका ध्येय नहीं है। वे तो काव्य समीक्षा में नीति-अनीति या शुभ-अशुभ इन शब्दों के प्रयोग को ही उचित नहीं समझते हैं। निस्सन्देह तुलसी व्यक्तिगत साधना की अपेक्षा लोकधर्म के अनुष्ठान को अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। तुलसी के व्यक्तित्व में उन्हें यही लोकधर्म दृष्टिगोचर हुआ है और वे उसके प्रति अपेक्षाकृत अधिक आकृष्ट हुए हैं। वस्तुतः वे व्यक्ति के अस्तित्व को ही समाज पर निर्भर समझते हैं। सुरक्षा की स्थिति में ही व्यक्ति को अपने प्रसार के लिए समुचित अवसर मिल सकता है। यह सुरक्षा समाज की सुदृढ़ स्थिति में ही सम्भव हो सकती है। समाज की छत्रछाया में ही व्यक्ति पनपता फूलता तथा फलता है।

४ "सत्य के उस रूप को उन्होंने स्वीकार मात्र से नहीं बल्कि निष्ठ भाव से देखा जो उन्नति सम्पन्न करने के लिए स्थिति में परिवर्तन उपस्थित करता है। अर्थात् जीवन में प्रगतिपक्ष की सत्यता को वे अस्वीकार नहीं कर सके। यानी वह स्वधर्मनिष्ठ से अधिक नियमतवादी थे।

अन्तिम शब्द आश्चर्यजनक है। शुक्लजी किसी मतवाद को साहित्य में लाना उचित नहीं समझते हैं। वे प्रगति के भी विरोधी नहीं हैं। हाँ प्रगति के स्वरूप व साधनों के सम्बन्ध में मतभेद माना जा सकता है। हिन्दी साहित्य की उन्नति की दिशा में वे प्रत्येक सत्य-साधन को अपनाने में संकोच नहीं करते हैं परन्तु वे नवीनता को ही प्रगति व विकास मानना नहीं चाहते हैं। वे भद्दी नकल के विरोधी थे परन्तु स्वतन्त्र प्रगति और विकास के साधक प्रत्येक सत्य को ग्रहण करने में उन्हें कभी संकोच नहीं हुआ। उन्होंने अपनी प्रगतिशीलता का रस सिद्धान्त की नवीन व्याख्या में प्रकृति के चित्रण सम्बन्धी मान्यताओं के प्रकाशन में परिचय दिया है। वे रस

पद्धति का आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से संस्कार व प्रसार करना चाहते हैं। वे हिन्दी साहित्य की प्रगति के सच्चे अभिलाषी हैं।

५ "पारिवारिक धर्म में ग्राम धर्म एवं नागरिक धर्म की आवश्यकता है जिसमें व्यक्ति सम्पूर्ण समाज के प्रति अपने को आभारी अनुभव करे और यह परिवार धर्म की ही प्रशाखा है। इसका स्वीकार इनके ग्रन्थों में नहीं मिलता। अर्थात् आधुनिक समाजवादी विचारों में जो सत्य है उसे वे न अपना सके।"

गुप्तजी का लोकधर्म व्यापक है उसमें नागरिक धर्म घुला मिला है। उन्होंने गृह धर्म से समाज धर्म, समाज धर्म से लोक धर्म और लोक धर्म में भी स्पष्ट विश्वधर्म की स्वीकृति की है। नागरिक धर्म की स्वीकृति का प्रश्न इस व्यापक धर्म की स्वीकृति के रहते उपस्थित ही नहीं होता। यदि आधुनिक समाजवादी विचारों का पूर्णतया उल्लेख गुप्त जी की रचनाओं में नहीं मिलता है तो उसमें विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि उनका क्षेत्र विशेषतया साहित्यिक ही रहा है, सामाजिक या राजनीतिक नहीं। किसी लेखक में सभी विचार व सभी पक्ष समान रूप से प्रतिबिम्बित नहीं हो सकते।

६ "उन्होंने इस अंश में वर्तमान का हित किया कि अपनी परम्परा से उसे विच्छिन्न न होने देने में अपनी शक्ति लगाई अर्थात् साहित्य में अनुकरणशील और उच्छृंखल तत्त्वों को उन्होंने उभरने से रोका।"

यह गुप्तजी के महत्त्व की यथार्थ अनुभूति है। उनकी प्रतिष्ठा का यही कारण है कि उन्होंने स्वतन्त्र प्रगति के विरोधी तत्त्वों को विकास-पथ में बाधक बनने नहीं दिया है।

७ "वर्तमान को भविष्य की ओर बढ़ने में उनसे प्रेरणा नहीं मिली है।"

भविष्य की ओर बढ़ने के लिए गुप्तजी ने अपना सारा बौद्धिक त्याग किया है। उनके विरोध की उपेक्षा ही इस बात का प्रमाण है। वर्तमान की आलोचना में भविष्य के सौन्दर्य एवं स्वस्थ स्वरूप के बीज सन्निहित

किये हैं। इनका अन्वेषण हमारा कर्तव्य है।

८ "उनके प्रतिपादन और खण्डन-मण्डन की दृढ़ता पूर्वक स्वीकृति अपने मतवाद से आती थी। अतीत का विवेचन और Intopritation भी उन्होंने तदनुकूल किया।

प्रत्येक सत्यान्वेषी तथा सत्याग्रही को दृढ़ता उसके अपने अन्तःकरण मे ही होती है। वह आत्मदर्शी होता है परमुखापेक्षी नही। मानव स्वभाव से ही अपनी अन्तर्दृष्टि के माध्यम से संसार का—चाहे वर्तमान हो चाहे अतीत हो—विश्लेषण करता है। शुक्लजी इसके अपवाद नही हैं। वे अपने विषय का प्रतिपादन और अन्य पक्ष का खण्डन पूर्ण दृढ़ता से करते हैं और वह दृढ़ता उन्हें उनकी अपनी धारणाओं मे ही प्राप्त होती है।

९ 'अपने और साहित्य-तत्त्व के बीच उन्होंने एक प्रकार का बौद्धिक हेतुवाद का अन्तर रखा अर्थात् अपने को उन्होंने साहित्यिक होते-होते बचाया और हठात् अपने को साहित्यालोचक बनाया। आलोचना में भी वे आलोचक थे सर्जक नहीं।

शुक्लजी की विशेषता उनके आचार्यत्व मे है। इसी आचार्यत्व ने उनकी साहित्यिक प्रतिभा को कुण्ठित किया है। सृजनात्मक प्रतिभा अपने विकास के लिए समुचित अवसर प्राप्त नही कर सकी। यह भी सत्य है कि उनकी आलोचना म बौद्धिक चिन्तन की अधिकता है।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी—वाजपेयी जी समीक्षा में सामाजिक सम्पर्क की चर्चा करते हैं और साथ ही रचयिता की मन स्थिति का पता लगाना भी आवश्यक समझते हैं। उन्हें शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति म ये दोनों गुण उपलब्ध हुए हैं। वे यह भी स्वीकार करते है कि शुक्लजी में उच्चकोटि की रसज्ञता थी और उन्होंने हिन्दी समीक्षा म क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। वे नये युग के विधायक थे।

वाजपेयी जी ने शुक्लजी की आलोचना पद्धति में कुछ खटकने वाली बातों का भी सकेत किया है। वे कहते है कि शुक्लजी ने अपने काव्य मान दण्डों में कुछ व्यक्तिगत रुचियों को समाविष्ट कर लिया है। अर्थात् तथा

लोचक की अपेक्षित तटस्थता उतनी कम है। इसी कारण उन्होंने प्रबंध काव्य को मुक्तक काव्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया और निर्गुण-सगुण धाराओं में से सगुण धारा की अपेक्षाकृत अधिक प्रशंसा की है। तटस्थता के अभाव के ही कारण उन्होंने मध्यकालीन वैष्णवधर्म की अवतार भूमि को समझने में सहायता नहीं पहुँचाई। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्राचीन काव्य का दार्शनिक अथवा साहित्यिक मूल्य निर्धारण करने में पक्षपात पूर्ण मनोवृत्ति का संकेत किया है। इसके अतिरिक्त उनका सारा चिन्तन द्विवेदी युग की व्यक्तिगत भावात्मक और आदर्शोन्मुख नैतिकता पर स्थित है। समाजशास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की वस्तुमुखी विवेचना उन्होंने नहीं की। प्रकृति विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य विवेचन भी प्रबन्ध रचना और जीवन सौन्दर्य के व्यापक अर्थों का आग्रह करने के कारण सर्वाङ्गीण और सम्यक् नहीं कहा जा सकता। इन्हीं आक्षेपों के कारण वाजपेयीजी ने शुक्ल जी को हिन्दी साहित्य समीक्षा का 'बालारुण' कहा है। उनका युग समाप्त हो चुका है। नये युग के साथ नया साहित्य निर्मित हो रहा है। अतएव हिन्दी साहित्य समीक्षा को भी नए प्रकाश की आवश्यकता है। शुक्लजी वस्तुतः इस नवीन युग के साहित्य का नेतृत्व नहीं कर सकते।

डाक्टर नगेन्द्र—आधुनिक समीक्षकों में श्री नगेन्द्रजी का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने 'आचार्य शुक्लजी के दो काव्याभिमान' शीर्षक लेख में शुक्लजी के सम्बन्ध में अपने आक्षेप अर्पित किये हैं। 'काव्य में अभिव्यंजना वाद' शीर्षक निबन्ध में शुक्लजी ने लिखा है कि काव्य में रमणीयता वाच्यार्थ में रहती है। चाहे वह योग्य और उपपन्न हो चाहे अयोग्य और अनुपयुक्त। इस कथन से सीधा यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे वाच्यार्थ को ही काव्य मानते हैं। व्यंग्यार्थ व लक्ष्यार्थ को नहीं। इस पर डाक्टर नगेन्द्र का यह आक्षेप है कि इस कथन में शुक्लजी चमत्कारवाद को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी दुर्बल क्षण में उन पर अभिव्यंजनावादी क्रोचे का जादू चल गया है। वस्तुतः वाच्यार्थ में रमणीयता का

अधिवास नहीं माना जा सकता है व्यंग्यार्थ में ही माना जाना चाहिए। लक्ष्यार्थ में भी नहीं क्योंकि यह भी वाच्यार्थ की तरह माध्यम मात्र है। रमणीयता का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रस के साथ है और रस कथित नहीं हो सकता है। शुक्लजी के उक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को अनुपपन्न अर्थ को उपपन्न करने का साधन मानते हैं परन्तु वास्तव में स्थिति इसके विपरीत है। वाच्यार्थ स्वयं ही अपने चमत्कारों के साथ व्यंग्य रस का साधन या माध्यम है। शुक्लजी का यह कथन कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है व्यंग्यार्थ व लक्ष्यार्थ नहीं एक हलका सा विषान्तर प्रसंग है।

इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि शुक्लजी लक्षणा और व्यंजना को अभिधा के ही आश्रित मानते हैं अतः वे उसे ही काव्यत्व का आधार प्रतिपादित करते हैं। उक्त कथन से अभिधा द्वारा संकेतित वाच्यार्थ के महत्त्व का ही संकेत लेना उचित है। शुक्लजी ने चमत्कार के विरोध के कारण अभिधा को महत्त्व प्रदान नहीं किया। उनके सिद्धान्त का विश्लेषण करने के उपरान्त हम यही समझते हैं कि वे भावशून्य चमत्कार के विरोधी थे। भावावेश के कारण जो उक्ति में वक्रता आती है उसके वे विरोधी न थे। अनुपपन्न अर्थ वाले शब्द का प्रयोग प्रकारान्तर से वक्रता ही है। उसमें काव्यत्व का अधिवास मान कर वे इसी वक्रता का समर्थन करते हैं।

शुक्लजी ने 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध में यह लिखा है कि योरप का अभिव्यंजनावाद हमारे यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद का ही नया रूप या विलायती उत्थान है। श्री नगेन्द्रजी का इस उक्ति पर सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि इस उक्ति से यह आभासित होता है कि भारतीय वक्रोक्तिवाद के प्रवर्तक कुन्तक का अभिव्यंजनावादी क्रोचे ऋणी है। वस्तुत यह बात नहीं है। इन दोनों आचार्यों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। क्रोचे आत्मवादी दार्शनिक है और कुन्तक साहित्य मीमांसक है। इसके अतिरिक्त इन दोनों में पर्याप्त साम्य होने पर वैषम्य इतना स्पष्ट है कि इन दोनों के वादों को एक नहीं कहा जा सकता है।

इसके सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने इन दोनों वादों की पूर्ण एकता का प्रतिपादन नहीं किया है। परन्तु मौलिक समता का संकेत मात्र किया है। शुक्लजी का उद्देश्य स्पष्टरूप से इन दोनों वादों की मूल प्रवृत्ति के प्रति धार्मिक विरोध प्रकट करना ही है। श्री नगेन्द्रजी के कथनानुसार हम शुक्लजी के उक्त कथन को अर्धसत्य के रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

श्री नगेन्द्रजी ने आचार्य शुक्ल तथा आई० ए० रिचर्ड्स का तुलनात्मक विवेचन किया है। वे यह मानते हैं कि शुक्लजी की मनोभूमि पर रिचर्ड्स का सीधा प्रभाव नहीं पड़ा है फिर भी उनको अपने पथ की स्थापना में उनसे सामयिक सहायता अवश्य मिली है। इन दोनों में साम्य और वैषम्य की विवेचना करने के अनन्तर श्री नगेन्द्रजी ने शुक्लजी के सम्बन्ध में अपनी धारणा यह बनाई है कि शुक्लजी ने लोक पक्ष को अत्यन्त महत्व दिया और रस की एकान्त साधना उन्हें कठिनता से ही प्राप्त हो सकती थी। इसी लिए वे हिन्दी के वर्तमान कवियों के साथ समझौता न कर सके। वे समय के साथ आगे नहीं बढ़ सके। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और जर्मन दार्शनिकों के सौन्दर्यशास्त्र की विशेषताओं को ग्रहण करने में वे असमर्थ रहे परन्तु अपने रस शास्त्र की शक्ति और सम्भावनाओं की वे निरन्तर छान-बीन करते रहे और इसके परिणामस्वरूप भारतीय रस शास्त्र का जो मनोवैज्ञानिक विवेचन उन्होंने प्रस्तुत किया वह भारत के आलोचना-साहित्य को उनका अमूल्य उपहार है। शुक्लजी ने अपने युग को प्रभावित नहीं किया आच्छादित किया है।

डाक्टर देवराज—श्री देवराजजी की दृष्टि में आचार्य शुक्ल रसानुभूति के बौद्धिक विश्लेषण में सक्षम थे। उनमें कृतियों में रस-ग्रहण की शक्ति भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी परन्तु उनमें कृतियों के मूल्यांकन का उचित दृष्टिकोण बनाने लायक चिन्तन शक्ति न थी। वे मूल्यांकन के सफल मानों का आविष्कार नहीं कर सके इसीलिए वे उच्चकोटि के साहित्य-मीमांसक न थे। वे जहाँ रसानुभूति के विशिष्ट अवसरों पर प्रभा

कारण खण्ड-सिद्धान्तों का आविष्कार कर डालते हैं वहाँ खण्ड-सिद्धान्तों का एक महा-सिद्धान्त के रूप में समन्वय नहीं कर पाते हैं। इस पर भी श्री देवराज जी शुक्लजी के उपकार को समझते हैं। वे कहते हैं कि उनके द्वारा प्रतिपादित खण्ड सिद्धान्त भी पूर्ण साहित्य शास्त्र के निर्माण के लिए परम उपयोगी हैं। शुक्लजी की स्वच्छ दृष्टि जितना देख सकी है उसके लिए भविष्य का साहित्य शास्त्र उनका चिर ऋणी रहेगा।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—द्विवेदी जी की दृष्टि में आचार्य शुक्ल नवीन और प्राचीन ज्ञान के वास्तविक सत्यसाक्षी थे। वे हिन्दी के गौरव थे। द्विवेदीजी कहते हैं कि कुछ लोगों को भ्रम है कि वे नए प्रयोग करने वाले तरुण साहित्यिकों के प्रति सहानुभूतिमयी दृष्टि नहीं रखते थे। ऐसी बात नहीं। वस्तुतः वे कुछ खास प्रकार के काव्य विचारों के पोषक थे उसके बाहर जाने वाले को वे पसन्द नहीं करते थे। फिर चाहे वह नवीन हो या प्राचीन। द्विवेदीजी शुक्लजी में असाधारण प्रतिभा स्वीकार करते हैं और हिन्दी साहित्य पर उनका अमिट प्रभाव मानते हैं।

श्री गुलाबराय—श्री गुलाबरायजी कहते हैं कि आचार्य शुक्लजी अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहते हुए भी हठधर्मी और असहृदय न थे। वे गुण ग्राहक थे। यही उनकी महानता थी। बुद्धि और हृदय के स्पृहणीय संयोग के कारण शुक्लजी के निबन्ध विषय प्रधान होते हुए भी उनके व्यक्तित्व की आभा से द्युतिमान दिखाई पड़ते हैं।

श्री विजयेन्द्र स्नातक—प्रो० स्नातक कहते हैं कि शुक्लजी कोरे आलोचक या समीक्षक ही नहीं वरन् उच्चकोटि के शैली-निर्माता निबन्ध कार, चित्र-इतिहास लेखक भावुक कवि समर्थ अनुवादक सफल अध्यापक और कुशल सम्पादक भी थे। उन्होंने साहित्य के जिस अंग को भी अपनी लेखनी से स्पर्श किया उसे अपनी विलक्षण-प्रतिभा से कई-गुना चमका दिया। हिन्दी में शुक्लजी की शिष्य मण्डली योग्यता और संख्या दोनों ही दृष्टियों से सबसे बड़ी है। शुक्लजी ने अध्ययन-अध्यापन की जो परम्परा अपने पीछे छोड़ी है उसमें उनकी प्रतिभा का पुट सर्वत्र दृष्टिगत होता है।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में शुक्लजी की विरोधी या अविरोधी समीक्षा ही इस बात का प्रमाण है कि उनका साहित्यिक व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। विरोधी समीक्षक भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान देने के लिए पूर्णतया सहमत कहे जा सकते हैं। आधुनिक समीक्षक शुक्लजी के अधूरे कार्य को पूर्ण करके भविष्य में हिन्दी में सर्वांगपूर्ण एवं सार्वभौम साहित्य सिद्धान्तों का निर्धारण करने में सक्षम हो सकते हैं। आशा है हिन्दी साहित्य के गगन में आचार्य शुक्ल की गरिमा का सूर्य अनन्त अपने आलोक का प्रसार करता रहेगा और उसमें यह साहित्य-भूमण्डल जगमगाता रहेगा।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में शुक्लजी की विरोधी या अविरोधी समीक्षा ही इस बात का प्रमाण है कि उनका साहित्यिक व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। विरोधी समीक्षक भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान देने के लिए पूर्णतया सहमत कहे जा सकते हैं। आधुनिक समीक्षक शुक्लजी के अधूरे कार्य को पूर्ण करके भविष्य में हिन्दी में सर्वांगपूर्ण एवं सार्वभौम साहित्य सिद्धान्तों का निर्धारण करने में सफल हो सकते हैं। आशा है हिन्दी साहित्य के गगन में आचार्य शुक्ल की गरिमा का सूर्य सतत अपने आलोक का प्रसार करता रहेगा और उससे यह साहित्य-भूमण्डल जगमगाता रहेगा।